जैन भारती

नवंबर, 2009 • वर्ष 57 • अंक 11 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments

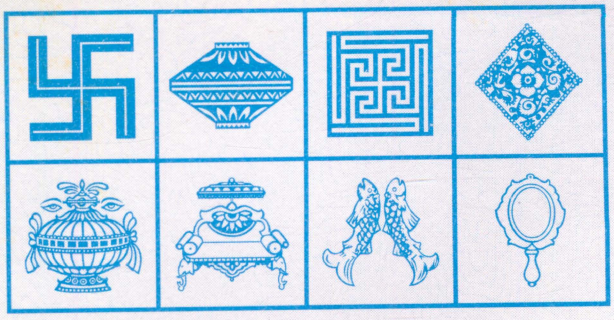

Witness the final statement in designer marble
Experience the magical union of the traditional and the modern tiles
All new Granite & Sanitary

Baid Marble & Tiles

Stockyard-1 Prince Anwar Shah Road, Kolkata
Stockyard-2 Kamalgachi, Narendrapur, Garia
Stockyard-3 N.S.C. Bose Road, Pratapgarh, Garia

Corporate Office :
53, Radha Bazar Lane, KOLKATA-1
TEL No. 033 2435 3286

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 • नवंबर, 2009 • अंक 11

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
सर्वांगीण शिक्षा : अध्यात्म और ध्यान से पृथक नहीं

15
नासिरा शर्मा
धर्म, समाज और बुद्धिजीवी बेचैनी

18
वीना सैन
अनेकांतवाद : अनुभवमूलक सिद्धांत; तर्क नहीं

•

आवरण
कमल श्रीमाली

अनुभूति

27
युवाचार्यश्री महाश्रमण
जं छेयं तं समायरे

29
मुनि मदनकुमार
आचार्यश्री मघवागणी वृत्ति और प्रवृत्ति में अध्यात्म के दर्शन

33
कहानी
कुंदनिका कापड़िया
मां

36
कविता
कुंवर नारायण की कविता

प्रसंग

7
शुभू पटवा
आत्मगौरव और विवेक

शीलन

39
भगिनी निवेदिता
दिव्य निर्माण का आधार संस्कार, प्रज्ञा और नैतिक प्रेरणा

43
साध्वी शुभ्रयशा
सृजन या विध्वंश : हम क्या चाहते हैं

47
मुनि रश्मिकुमार
तत्त्व का ज्ञान : मुक्ति का सोपान

51
मुनि रजनीश
आत्मशुद्धि साधनं धर्मः

55
बालकथा
रमेश थानवी
यह रोशनी कहां से आएगी

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

जगह तो परिग्रह है

किसी ने स्वामीजी से पूछा—'पौषध करने वाले को स्थान दिया, उसको क्या हुआ?'

तब स्वामीजी बोले—'उसने कहा—'मेरी जगह में पौषध करो', यह कहने वाले को धर्म होता है।'

तब फिर पूछा—'जगह दी, उसमें क्या हुआ?'

तब स्वामीजी बोले—'क्या उसने जगह सदा के लिए दे दी? उसने अपनी जगह में पौषध करने की स्वीकृति दी, वह धर्म है। जगह तो परिग्रह है, उसके सेवन करने और कराने से धर्म नहीं होता। सामायिक और पौषध की स्वीकृति देता है, वह धर्म है।'

सामायिक की सुरक्षा

कोई कहता है—'सामायिक में शरीर का प्रमार्जन कर खुजलाना धर्म है और शरीर का प्रमार्जन किए बिना उसे खुजलाता है, तो उसे पाप लगता है।'

तब स्वामीजी बोले—'चींटी और मच्छर सामायिक में काट खाए, तो शरीर को काटा या सामायिक को?'

तब वह बोला—'शरीर को काटा।'

तब स्वामीजी बोले—'शरीर का प्रमार्जन करके खुजलाता है, तो वह सुरक्षा सामायिक की करता है या शरीर की?'

तब वह विपरीत मान्यता के आधार पर बोला—'सुरक्षा सामायिक की करता है।'

तब स्वामीजी बोले—'वह नहीं खुजलाता, तो सामायिक की सुरक्षा तो और ज्यादा होती। अतः बिना प्रमार्जन किए खुजलाने का त्याग है। सामायिक में प्रमार्जन किए बिना शरीर को नहीं खुजला सकता। यदि शरीर को न खुजलाता, मच्छर आदि के काटने को सहन करता, तो निर्जरा अधिक होती। उससे सामायिक और अधिक पुष्ट होता। इस दृष्टि से जो शरीर का प्रमार्जन करता है, वह सामायिक की सुरक्षा के लिए नहीं करता। मच्छर ने शरीर को काटा, सामायिक को नहीं काटा, ये तो वे भी कहते हैं। शरीर की सुरक्षा के लिए उसका प्रमार्जन करते हैं और उसे खुजलाते हैं, किंतु सामायिक की सुरक्षा के लिए प्रमार्जन नहीं करते। ढाई द्वीप (मनुष्य-क्षेत्र) के बाहर समुद्रों में रहने वाले तिर्यंच श्रावक सामायिक और पौषध व्रत का अभ्यास करते हैं, वे कौन-सी प्रमार्जनी रखते हैं? सामायिक की सुरक्षा वे भी बहुत सावधानी से करते हैं। अयतना (असंयम) न करना ही सामायिक की सुरक्षा है। ●

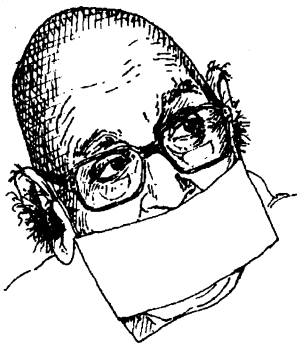

जन्म और जीवन दो बातें हैं। जन्म के लिए सौहार्द की अपेक्षा नहीं होती; पर जीने के लिए वह एक आवश्यक तत्व है। वैसे सौहार्द के बिना भी जीवन टिक सकता है, किंतु उसमें वह समरसता और जीवटता नहीं रह पाती, जो व्यक्ति को आह्लाद की अनुभूति देती है। सौहार्द की भित्ति है—मैत्री। प्राणी-जगत के साथ तादात्म्य स्थापित करने का यह मूल मंत्र है। अविकसित चेतना वाले प्राणियों पर भी मैत्री का अद्भुत प्रभाव पड़ता है। जैसे-जैसे चेतना का विकास होता है, मैत्री की अपेक्षा बढ़ती जाती है। मैत्री भावना की व्यावहारिक फलश्रुति है सौहार्द। अन्य जीव-जातियों की अपेक्षा इसका विकास मनुष्य में अधिक हो सकता है; क्योंकि वह विचारशील होता है, विवेकशील होता है और सामूहिक जीवन जीता है।

जहां व्यक्ति अकेला रहता है, वहां वह निरपेक्ष जीवन भी जीता है। इकाइयों की संहति परिवार को आकार देती है। परिवार का होना या बढ़ना कोई बहुत मूल्यवान बात नहीं है, मूल्यवान बिंदु है पारिवारिक सौहार्द। आज सौहार्द का जहाज युगीन सभ्यता के सागर में डूब रहा है, यह सबसे अधिक चिंता का विषय है। इससे मानव जाति की मुसकान फीकी होती जा रही है और जीवन बोझिल बनता जा रहा है। ऐसा लगता है मानो सड़कों पर अंधेरे से मुकाबला करती 'डे-लाइटों' का उजास फैल रहा है, किंतु मनुष्य के अंतःकरण में अंधेरों का मजमा लगा हुआ है। इस मजमे को बिखेरने के लिए आत्मविश्वास के दीवट में सौहार्द का तेल भरना जरूरी है।

— आचार्यश्री तुलसी

दुनिया में दुःख क्या है और सुख क्या है? उत्तर मिला—**लोहो दुहं कि सुहमाहु तुट्ठी**—लोभ दुःख है और संतोष सुख है। जहां अतिकामना है, लालसा है—वहां जब कामनाएं पूरी नहीं होती तो दुःख पैदा हो जाता है। कामना के तीन स्तर हो सकते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्तम। जघन्य स्तर की कामना वह होती है—जिसमें आदमी यह भावना करता है कि अमुक व्यक्ति का बुरा हो जाए, अमुक व्यक्ति का व्यापार चौपट हो जाए, अमुक परिवार में सब बीमार हो जाएं, अस्त-व्यस्त हो जाएं आदि। मध्यम स्तर की कामना में आदमी भौतिक आकांक्षा करता है। वह सोचता है—मुझे धन मिल जाए, संतान मिल जाए, कोई पद मिल जाए। मध्यम स्तर की कामना में व्यक्ति दूसरों का अनिष्ट नहीं चाहता, किंतु अपने लिए, अपने परिवार के लिए भौतिक पदार्थों की इच्छा करता है। उत्तम स्तर की कामना वह होती है—जिसमें व्यक्ति आत्मिक विकास चाहता है। वह भावना करता है कि मेरे में मैत्री का विकास हो, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावना का विकास हो। अतः आदमी कामना भी करे, तो उत्तम स्तर की करे। पर, वास्तव में तो जब कामनाएं समाप्त होती हैं, तभी आदमी को परम सुख प्राप्त होता है।

जिस व्यक्ति के जीवन में अहिंसा, अप्रमाद, सत्य और संतोष आ गया, अथवा इनके आधार पर अपनी जीवनशैली का जो निर्माण कर लेता है, उसका वर्तमान जीवन तो अच्छा बनता ही है, भावी जीवन भी अच्छा बनने की संभावना बन सकती है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

वह भगवान के सामने जाकर खड़ा हो गया। शरीर पर एक अर्थभरी दृष्टि डाली—पैर से सिर तक। फिर वह असमंजस में खो गया। इसके शरीर के लक्षण बतलाते हैं कि यह चक्रवर्ती है, जबकि इसकी स्थिति से प्रकट होता है कि यह पदयात्री भिक्षु है। वह कुछ देर तक दिग्भ्रांत-सा खड़ा रहा।

भगवान ध्यान से विरत हुए। पुष्य अभिवादन कर बोला, 'भंते! आप अकेले कैसे?'

—'इस दुनिया में जो आता है, वह अकेला ही आता है और अकेला ही चला जाता है, दूसरा कौन साथ देता है?'

—'नहीं भंते! मैं तत्त्व की चर्चा नहीं कर रहा हूं। मैं व्यवहार की बात कर रहा हूं।'

—'व्यवहार की भूमिका पर मैं अकेला कहां हूं?'

—'भंते! आप परिवार-विहीन होकर भी अकेले कैसे नहीं हैं?'

—'मेरा परिवार मेरे साथ है।'

—'कहां है? भंते! यही जानना चाहता हूं।'

—'संवर-ध्यान (निर्विकल्प) मेरा पिता है। अहिंसा मेरी माता है। ब्रह्मचर्य मेरा भाई है। अनासक्ति मेरी बहिन है। शांति मेरी प्रिया है। विवेक मेरा पुत्र है। क्षमा मेरी पुत्री है। उपशम मेरा घर है। सत्य मेरा मित्र-वर्ग है। मेरा पूरा परिवार निरंतर मेरे साथ घूम रहा है। फिर मैं अकेला कैसे?

—'भंते! मुझे पहेली में मत उलझाइए। मैं अपने मन की उलझन आपके सामने रखता हूं, उस पर ध्यान दें। आपके शरीर के लक्षण आपके चक्रवर्ती होने की सूचना देते हैं और आपकी यह चर्या आपके साधारण व्यक्ति होने की सूचना दे रही है। मेरे सामने आज तक के अर्जित ज्ञान की सचाई का प्रश्न है, जीवन-मरण का प्रश्न है। इसे आप सतही प्रश्न मत समझिए।'

—'पुष्य! बताओ, चक्रवर्ती कौन होता है?'

—'भंते! जिसके आगे-आगे चक्र चलता है।'

—'चक्रवर्ती कौन होता है?'

—'भंते! जिसके पास बारह योजन में फैली हुई सेना को त्राण देने वाला छत्ररत्न होता है।'

—'चक्रवर्ती कौन होता है?'

—'भंते! जिसके पास चर्मरत्न होता है, जिससे प्रातःकाल बोया हुआ बीज शाम को पक जाता है।'

—'पुष्य! तुम ऊपर, नीचे, तिरछे—कहीं भी देखो, धर्म का चक्र मेरे आगे-आगे चल रहा है। आचार मेरा छत्ररत्न है। उसमें जिस क्षण बीज बोया जाता है, उसी क्षण वह पक जाता है। क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूं? क्या तुम्हारे सामुद्रिक-शास्त्र में 'धर्म-चक्रवर्ती' का अस्तित्व नहीं है?

—'भंते! बहुत अच्छा। मेरा संदेह निवृत्त हो गया है। अब मैं स्वस्थ होकर जा रहा हूं।'

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
नवंबर, 2009

प्रसंग

आत्मगौरव और विवेक

मनुष्यमात्र के आत्मगौरव की बात सामान्यतः हर समझदार व्यक्ति के मुंह से निकलती है, पर हम पाते हैं कि इन्हीं के द्वारा किसी का आत्मगौरव खंडित भी होता दिखाई दे सकता है। इस विखंडन से बचने का उपाय स्वयं उस व्यक्ति के पास ही होता है, जिसका आत्मगौरव चोटिल हो रहा होता है। आत्मगौरव को सुरक्षित रखने का उपाय बाहर या ऊपर से नहीं पाया जा सकता है। इसका उपाय मनुष्य के अपने विवेक की आंख में ही निहित है। जिसका अंतःविवेक जितना जाग्रत और प्रखर होगा, उसका आत्मगौरव उतना ही सुरक्षित रहेगा। अतः यह देखना जरूरी है कि मनुष्य का अंतःविवेक कैसे जाग्रत हो और वह सजग रहे।

इस दृष्टि से अंग्रेजी के दो शब्द—'डिग्निटि' और 'विज्डम' पर गौर करें तो आत्मगौरव और विवेक का मर्म समझा जा सकता है। शब्दकोश में इनके सामान्य अर्थ हमें इनके मर्म तक पहुंचा सकते हैं और यह समझा जा सकता है कि ये शब्द मनुष्यमात्र के जीवन के लिए किस कदर महत्त्वपूर्ण हैं। पर, हम देखते हैं कि इनकी मार्मिकता तक पहुंचना और हमारे जीवन का ये अंग बन जाएं—इस ओर हम कतई सजग नहीं हैं। बहुत बार तो यह भी देख सकते हैं कि किन्हीं निहित क्षुद्र स्वार्थों अथवा बेवजह मजबूरियों के वशीभूत कोई व्यक्ति स्वयं अपने ही हाथों इनकी चिता सजाने में गुरेज नहीं करता। ऐसा करने के पीछे सुचिंतित मानसिकता जब नजर आती है, तब यह समझ आता है कि उस व्यक्ति ने न केवल अपने को छला है, अपितु सामाजिक दृष्टि से भी ऐसा धतकरम कर डाला है कि वह क्षम्य नहीं माना जा सकता। कई बार तो यह तक कह कर अपने किए का औचित्य सिद्ध करने की कोशिश की जाती है कि आदमी को इतना 'व्यवहार-कुशल' तो होना ही चाहिए। इस प्रकार वह व्यक्ति 'व्यवहार-कुशलता' को भी अपने ही मानकों की कसौटी पर कस रहा होता है और समाज में जा रहे गलत संदेश तथा उससे पैदा होने वाली विद्रूपताओं को दरकिनार करता है।

इन दुर्निवार स्थितियों से समाज को बचाने और अंततः इन हालातों से समाज को मुक्त करने की जरूरत है। यह कोई कठिन काम नहीं है। ऐसे हालातों के लिए जो भी उत्तरदायी हैं, उनके इरादों को समझने और कोई कुत्सितता प्रतीत हो तो उसे प्रकट करने के साहस की जरूरत है। इसी समाज में ऐसा करने वालों की कमी नहीं है। ऐसे साहसी एवं निस्पृह लोग अभी भी हैं समाज में, जो खरी बात कहते न हिचकिचाते हैं और न यह परवाह करते हैं कि उनका कोई अहित हो जाएगा। हित-अहित के उनके पैमाने ही अलग होते हैं। पर, ऐसे साहसी और निस्पृह लोगों के साथ क्या समाज की सहभागिता रहती है? यह कुछ दुरूह बात है और व्यक्ति की ही

तरह 'समाज' भी साहस के साथ नीति-अनीति या हित-अहित का नीर-क्षीर करे, इन स्थितियों में समाज को लाना उन साहसी व्यक्तियों का ही काम है—जो निहित स्वार्थों से ऊपर और निस्पृह हैं।

तब यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि ऐसी निस्पृहता का किसी के जीवन में कैसे समावेश हो? जब चारों ओर निहित और क्षुद्र स्वार्थों का ही बोलबाला हो और 'बड़प्पन' का तराजू केवल भौतिक संसाधनों की ओर ही झुकता रहे, तो निस्पृहता की उम्मीद कैसे तथा किससे की जा सकती है? हमारे सम्मुख धर्म और अध्यात्म का क्षेत्र है और इसमें लीन साधकों से ऐसी अपेक्षा की जा सकती है। एक समय था, जब शिक्षक समुदाय और पत्रकार वर्ग से भी निस्पृहता की उम्मीद जगती थी। आज इन वर्गों में भी काफी घालमेल आ गया है। पर, अभी भी उम्मीद इसी वर्ग से है कि वे निर्लोभ व निरपेक्ष भाव से समाज में व्याप्त विकृतियों पर सचोट निशाना साध सकते हैं। वे साधते भी हैं, लेकिन इसका असर निश्चय ही कई बार इतना प्रभावी नहीं हो पाता कि 'असर हुआ ही है'—ऐसा प्रकटतः नजर आए। इसका कारण भी स्पष्ट है कि निहित और क्षुद्र स्वार्थों की शक्ति आज समाज पर हावी है। इसीलिए यह कठिनतर काम है और इसीलिए इसका प्रभावी होना आवश्यक है।

जिन वर्गों से पूर्ण निस्पृहता की उम्मीद रहती आई है और आज जिनमें घालमेल भी जाहिर है, अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि संघर्ष दो मोर्चों पर है। एक—इसी वर्ग में हो रहे घालमेल के विरुद्ध और दूसरा-समाज का वह वर्ग जो 'अपने' से आगे कुछ देखने को तैयार ही नहीं है। दोनों ही मोर्चों पर होने वाला संघर्ष हम आज भी जहां-तहां देख सकते हैं। अतः यह मानना चाहिए कि चिनगारी अभी है और उसे राख हो जाने से बचाने की जरूरत है। समाज के वर्तमान ढांचे को चट कर जाने वाली दीमक से बचाने का एक तरीका हमारे सामने है और इसे अधिक कारगर बनाने की दिशा में सोचा जाना चाहिए, पर इस पर भी सुचिंतित विचार होना चाहिए कि हमारी नई पीढ़ी कैसे इस दृष्टि से कार्यक्षम हो?

हमारी शिक्षा और शिक्षा संस्थान इसके सर्वाधिक प्रभावकारी माध्यम हो सकते हैं। वर्तमान शिक्षा समाज को जो दे रही है—'जैन भारती' में उस पर निरंतर अलग-अलग कोणों से चर्चा होती रही है। अतः अब तो इस दिशा में ऐसी ठोस रीति-नीति की ओर अग्रसर होने की आवश्यकता है, जिससे समुचित और समग्र सोच की अवधारणा प्रतिफलित हो, न कि निहित या क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति का हेतु ही हमारी शिक्षा बनी चलती रहे।

एक और बात भी है और प्रसंगवश उसका जिक्र भी अपेक्षित है; यह बात है—हमारे बाल व किशोर समुदाय के बारे में। इनके प्रति समाज का नजरिया कैसा होना चाहिए? यह बात बाल अधिकारों अथवा उनके हितों की बात से कहीं अधिक मार्मिक है। एक घटना से इस बात का सार्थक खुलासा हो सकता है—

किसी आयोजन में, उसके शुरू हो जाने के बाद कुछ बड़े (?) लोग आ पहुंचते हैं। आयोजकों के लिए उनको सम्मानपूर्वक आगे-आगे स्थान देना लाजिमी है। आयोजक उनके साथ आते हैं और आगे की पंक्ति में बैठे चार-पांच वर्ष के एक बालक का हाथ पकड़ उसे उठाते हैं, ताकि वे बड़े (?) जन स्थान ग्रहण कर सकें। संयोग कि उस बालक के पास बैठा एक व्यक्ति तपाक से बालक को स्थान से उठने से रोकते हुए अपना स्थान खाली करता है और आयोजक से मुखातिब हो कहता है—इसे न उठाइये; बालक के कोमल मन पर आपकी ऐसी छवि अभी से स्थापित हो जाएगी, कि जो बड़ी विद्रूप होगी। यह बात वे बड़े (?) मेहमान भी सुनते हैं, सकपकाते हैं और बैठते हुए हिचकिचाते हैं।

इस घटना में आयोजक का ऐसा कृत्य अनायास व हड़बड़ाहट भरा माना जा सकता है। पर, क्या वह इससे बच सकता है? बेशक, इससे बचना कठिन नहीं है—बस थोड़े विवेक की अपेक्षा इसमें रहती है। उन बड़े (?) मेहमान का कोई आत्मगौरव (डिग्निटि) यदि है, तो उस बालक का भी है। दोनों का रहे—यहां पर विवेक की आवश्यकता है। बालक किसी भी हालत में निरीह न समझा जाए और कम-से-कम ऐसे हालात व ऐसी स्थितियां तो कतई न आएं—जैसा कि घटना में जिक्र है। आत्मगौरव और विवेक—दोनों ही यहां कसौटी पर हैं और दोनों ही सुरक्षित रह सकते हैं, बशर्ते कि हम हड़बड़ाहट में वैसा न कर बैठें—जैसा घटित हुआ।

हमारा; हम सब का आत्मगौरव है और विवेक की आंख भी, प्रश्न सिर्फ इस आंख के खुले रखने का है कि हमारा आत्मगौरव कहीं खंडित न हो। बस।

—शुभू पटवा

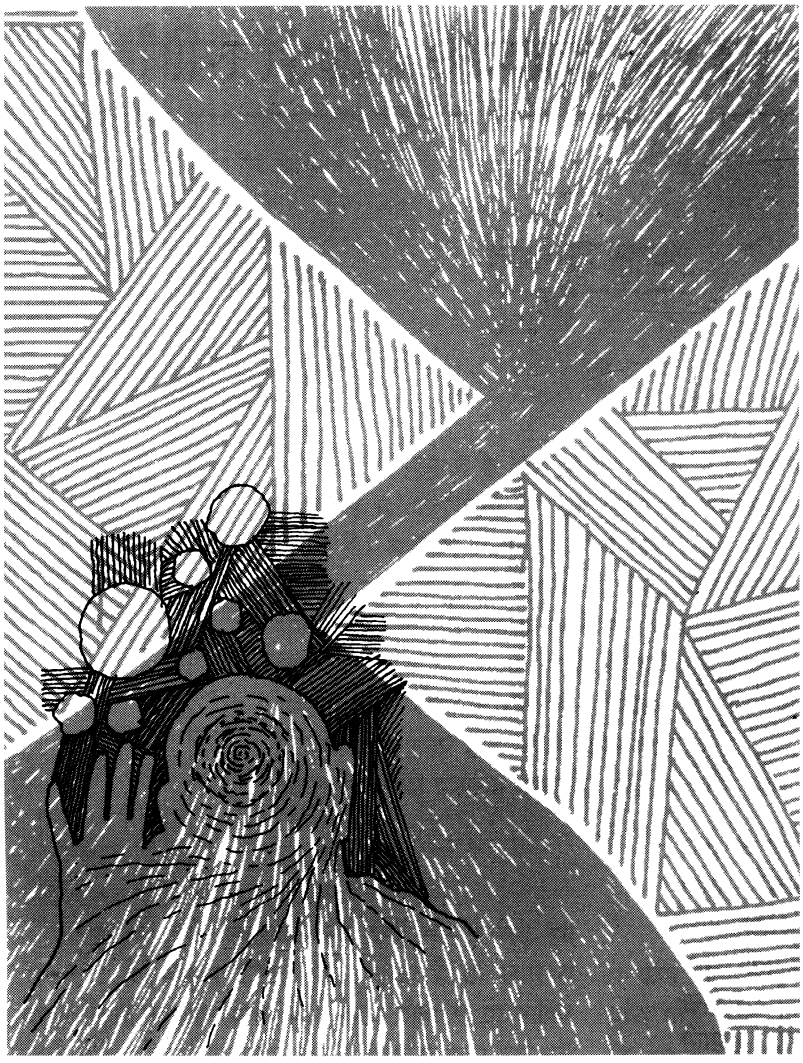

विमर्श

'जीने' का अर्थ है—समय से मुक्त हो जाना; और जब हम कहते हैं, 'यदि',—तो हम समय को बीच में ला रहे हैं और समय ही सबसे बड़ा दुख है।

प्रश्न हो सकता है कि हम एक-दूसरे के प्रति 'स्वयं' कैसे हो सकते हैं? 'स्वयं होना'—क्या यह पूछा जा सकता है कि हमारा 'स्वयं' क्या है? जब हम 'दूसरे के प्रति स्वयं' की बात करते हैं, तो हमारा यह 'स्वयं' क्या है? हमारा क्रोध, हमारी कटुता, हमारी कुंठाएं, हमारी निराशाएं, हमारी आशाएं, हमारी हिंसा, हममें प्रेम का नितांत अभाव—क्या यही सब वह है जो हम हैं? ऐसा नहीं सोचें कि मैं दूसरे के साथ 'स्वयं' कैसे हो सकता हूं? हम स्वयं को जानते ही नहीं हैं। हम यही सब हैं और दूसरा भी वही सब-कुछ है—उसका दुख, उसकी समस्याएं, उसकी मनोदशाएं, उसकी कुंठाएं, उसकी महत्त्वाकांक्षाएं—और हर व्यक्ति इन्हीं चीजों से निर्मित एक अलगाव और पृथकता में जीता है।

—जिद्दू कृष्णमूर्ति

सर्वांगीण शिक्षा : अध्यात्म और ध्यान से पृथक नहीं

❑

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

समस्याओं से निपटने के लिए हमारी शिक्षा में कोई व्यवस्था नहीं है। शिक्षा का यह एकांगीपन है। इस शिक्षा को सर्वांगीण नहीं कहा जा सकता है। सर्वांगीण शिक्षा अध्यात्म और ध्यान से पृथक नहीं हो सकती। अपने जीवन को समझने के लिए, अपने मन की समस्या को समझाने के लिए और अपनी मानसिक समस्या का समाधान खोजने के लिए जो होना चाहिए—वह हमारी शिक्षा में नहीं है।
समस्याओं का समाधान होता है—परिवर्तन के द्वारा। केवल शाब्दिक परिवर्तन नहीं, हमारे भीतर जो है, वह बदलना चाहिए। जो हमारे जीवन को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है, उसमें परिवर्तन आना चाहिए।

शक्ति और स्वास्थ्य—ये दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। मनुष्य शक्ति संपन्न होता है तो स्वास्थ्य अच्छा रहता है और स्वास्थ्य अच्छा होता है तो शक्ति बढ़ती है। दोनों का परस्पर संबंध है। एक से काम पूरा नहीं होता। शोधन के ही द्वारा शक्ति आती है। स्वास्थ्य भी शोधन के द्वारा ही उपलब्ध होता है। जितना अच्छा शोधन होगा, उतनी ही शक्ति बढ़ेगी। शोधन और पोषण—ये दोनों प्रक्रियाएं साथ-साथ चलती हैं, तभी सारे कार्य संपन्न होते हैं। ध्यान शोधन की भी प्रक्रिया है और पोषण की भी प्रक्रिया है। इसीलिए यह हमारी शिक्षा का भी एक अनिवार्य अंग होना चाहिए।

शिक्षा को लेकर अब तक बहुत सोचा गया है, पर यह समस्या तब तक समाहित नहीं हो सकेगी, जब तक उसके साथ अध्यात्म-विद्या नहीं जुड़ेगी, ध्यान का प्रशिक्षण नहीं जुड़ेगा। वर्तमान शिक्षा में शरीर को सुविधा देने की पूरी व्यवस्था है, किंतु शरीर के साथ मन भी जुड़ा हुआ है। वर्तमान शिक्षा में मन के साथ काफी उपेक्षा बरती गई है।

हम प्रायः स्थूल बुद्धि से काम लेते हैं। सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना कठिन है। इसलिए मानना चाहिए कि सूक्ष्म बुद्धि कोई काम भी नहीं करती और इसलिए नहीं करती कि हम केंद्र में शरीर को मानते हैं। अगर परिधि में शरीर हो तो कोई सुगम रास्ता निकल सकता है। जब शरीर को केंद्र में रख कर सारी समस्याओं पर सोचते हैं और उनका समाधान निकालने का प्रयत्न करते हैं तो समस्याएं कहीं अधिक उलझ जाती हैं, उनका समाधान नहीं हो पाता। समस्या के समाधान का रास्ता यह है कि केंद्र में चेतना रहे और दूसरी सब बातें परिधि में रहें। चिंतन का सारा कोण यह हो कि अमुख प्रवृत्ति की चित्त पर क्या प्रतिक्रिया होगी? जो काम किया जा रहा है—वर्तमान में बहुत अच्छा लग रहा है, पर चित्त पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? क्या परिणाम होगा? हमारी चेतना पर इसके क्या संस्कार जमेंगे और उनके क्या प्रतिफलन होंगे? चिंतन का यह दृष्टिकोण समस्या को सुलझाने वाला दृष्टिकोण है। शरीर को केंद्र में रख कर सोचने का दृष्टिकोण समस्या को

उलझाने वाला दृष्टिकोण है। मन को सुलझाने की प्रक्रिया ध्यान है।

शिक्षा के सामने आज एक प्रश्न है—मानसिक समस्याओं का। जिस शिक्षा के द्वारा हमारी मानसिक समस्याओं का समाधान नहीं होता, वह शिक्षा हमारे लिए वरदान नहीं बन सकती। केवल पदार्थ मिल जाएं, आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए, बौद्धिक विकास हो जाए—इतना ही पर्याप्त नहीं है। मानसिक विकास होना अलग बात है, पर मानसिक समस्याओं का समाधान कर पाना सर्वथा दूसरी बात है। स्मृति की तीव्रता, चिंतन की दक्षता और कल्पना की पटुता से मानसिक विकास तो हो गया, पर इसका दूसरा पहलू भी है कि जितना मानसिक विकास होता है, मानसिक उलझनें भी उतनी ही बढ़ती हैं। स्मृति भी कम मानसिक उलझन नहीं है। स्मृति बहुत सारी समस्याओं को पैदा करने का निमित्त भी है।

चिंतन भी विकास का ही मानदंड है, किंतु चिंतन समस्याएं पैदा करने वाला भी तो है। न जाने कितनी समस्याएं चिंतन के द्वारा पैदा होती हैं। यदि अचिंतन की बात हो, तो शायद समस्या नहीं हो। चिंतन इतना होता है कि सोचना स्वयं समस्या बन जाता है। आदमी सोचता चला जाता है, फिर भी वह निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाता।

कल्पनाशीलता भी मानसिक विकास है, वहीं यह बहुत बड़े संकट का कारण भी है। यदि कल्पना का संयम हो जाए तो बहुत-सी मानसिक समस्याएं सुलझ जाएं। कल्पना के द्वारा समस्याएं बहुत उलझती हैं। आदमी यथार्थ तक पहुंच ही नहीं पाता। जिस व्यक्ति में कल्पना की उड़ान ज्यादा ही हो जाती है, तो वह दुखी भी बहुत रहता है। काल्पनिक समस्याएं जटिल भी होती हैं। यदि वास्तविक समस्याएं हों, तो उन्हें सुलझाने में बहुत समय नहीं लगेगा, किंतु हमारी समस्या ही जब काल्पनिक है, तो फिर सुलझाने का रास्ता कैसा होगा—हम अनुमान लगा सकते हैं।

हम यदि सचमुच अध्ययन करेंगे, तो पता चलेगा कि प्रायः समस्याएं काल्पनिक ही होती हैं। चाहे पारिवारिक हों, चाहें संस्थागत हों, चाहे राष्ट्रगत हों। कल्पनाएं यथार्थ नहीं होतीं, पर वे समस्या बन जाती हैं। वास्तविक समस्याएं बहुत थोड़ी होती हैं। कल्पना का होना जहां मानसिक विकास की श्रेणी में आता है, वहीं कल्पना का होना मानसिक समस्याओं का होना भी है। विकास के साथ समस्याएं पैदा होती हैं—यह अनिवार्य है। इन समस्याओं से निपटने के लिए हमारी शिक्षा में कोई व्यवस्था नहीं है। शिक्षा का यह एकांगीपन है। इस शिक्षा को सर्वांगीण नहीं कहा जा सकता है। सर्वांगीण शिक्षा अध्यात्म और ध्यान से पृथक नहीं हो सकती। अपने जीवन को समझने के लिए, अपने मन की समस्या को समझाने के लिए और अपनी मानसिक समस्या का समाधान खोजने के लिए जो होना चाहिए—वह हमारी शिक्षा में नहीं है।

समस्याओं का समाधान होता है—परिवर्तन के द्वारा। केवल शाब्दिक परिवर्तन नहीं, हमारे भीतर जो है, वह बदलना चाहिए। जो हमारे जीवन को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है, उसमें परिवर्तन आना चाहिए। दर्शन की भाषा में कहा जाए तो यह कर्म का विपाक है। प्राचीन योग की भाषा में अमृत या सोमपान है और आज की भाषा में अंतःस्रावी ग्रंथियों का स्राव है। मनुष्य को यही सबसे ज्यादा प्रभावित करता है। कर्म का विपाक जिस-जिस क्षण आता है, व्यक्ति को प्रभावित करता है। इसीलिए कोई आदमी एक जैसा नहीं होता। कोई भी चेतन प्राणी विशेषतः मनुष्य—जैसा चित्र प्रातःकाल में होगा, वैसा दोपहर में नहीं रहेगा। मनुष्य में ही हजारों मनुष्य पैदा हो जाते हैं। आदमी में हजारों आदमी एक दिन में पैदा हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को सूर्योदय के समय देखा, यदि उस व्यक्ति का उस समय फोटो लिया जाए और दो मिनट के बाद उसी व्यक्ति का फिर फोटो लिया जाए, तो पता चलेगा कि यह तो कोई दूसरा ही आदमी है। भीतर में इतना बदल रहा है कि चेतन के लिए कोई नियंत्रण नहीं किया जा सकता, नियम नहीं बनाया जा सकता। विज्ञान ने पदार्थ-जगत के लिए बहुत सारे नियम खोजे हैं, किंतु प्राणी-जगत के लिए उसके नियम काम नहीं दे रहे हैं। इतना बड़ा परिवर्तन आ जाता है कि प्राणी की एकरूपता की व्याख्या नहीं की जा सकती।

मनुष्य की स्वतंत्रता यही है। मनुष्य जड़ नहीं है। जड़ का नियम एक होता है और चेतन का नियम दूसरा होता है। चेतन में स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उसकी स्वतंत्र सत्ता होती है। उसकी अपनी स्वतंत्रता होती है। वह अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करता है। जब अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करता है, उस समय उसके लिए कोई सार्वभौम नियम काम नहीं देता। जो सर्वथा परतंत्र हैं, जिनमें अपनी क्षमता नहीं, अपनी स्वतंत्रता नहीं—उन्हें नियम के द्वारा बांधा जा सकता है। उनके लिए कोई सार्वभौम नियम बन सकता है, किंतु

अपनी ही स्वतंत्रता से परिवर्तित होने वाले मनुष्य के लिए कोई सार्वभौम नियम नहीं बन सकता।

मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता है। उस स्वतंत्रता को उभरना, उसे विकसित करना—ध्यान की शिक्षा का यह मुख्य तत्त्व है। ध्यान करने का अर्थ केवल आंखें बंद कर बैठ जाना ही नहीं है। केवल कुछ क्षणों के लिए विश्राम ले लेना ही नहीं है, केवल मानसिक भार को कम कर देना मात्र नहीं है। ऐसी बातें होती हैं, किंतु ये सारे मुख्य लक्ष्य नहीं हैं। ध्यान की शिक्षा अथवा ध्यान के अभ्यास का मुख्य लक्ष्य है—चेतना की स्वतंत्रता को अनंत आयाम देना। इतना बड़ा आयाम देना कि हमारी जो स्वतंत्रता है, उसके सारे बंधन टूट जाएं और पूर्ण स्वतंत्रता अपने पूरे रूप में विकास पा सके। ध्यान की शिक्षा का यही उद्देश्य है। इसके लिए आंतरिक स्रावों पर अनुशासन करना बहुत जरूरी है।

एक आदमी चाहता है कि क्रोध न आए। यह समस्या है, पर क्यों है यह समस्या? हमारी 'एड्रीनल' ग्रंथि में जब-जब मात्रा से अधिक स्राव बढ़ता है, तो गुस्सा फूट पड़ता है। इस ग्रंथि का स्राव जैसे ही बढ़ा, घटना घट गई। कुछ डाक्टरों ने एक प्रयोग किया—एक बंदर की 'एड्रीनल' ग्रंथी में कोई इंजेक्शन लगाया और देखा कि स्राव बढ़ गया। जैसे ही 'एड्रीनल' का स्राव बढ़ा, बंदर गुस्से में लाल-पीला हो गया। फिर जैसे ही 'एड्रीनल' को शांत किया, तो गुस्सा एकदम शांत हो गया। हमारी सारी वृत्तियां नाभि के आस-पास सक्रिय होती हैं। भोजन को पचाने का, प्राणशक्ति को पैदा करने का यही स्थान है। साथ ही साथ भय, वासना, क्रोध, अहंकार, लोभ, निंदा, ईर्ष्या—इन सबको पचाने का भी यही स्थान है और इन सबको पैदा करने का भी यही स्थान है। यदि पेट ठीक हो जाए तो दोनों बातें ठीक हो जाती हैं। पेट ठीक होता है, तो स्वास्थ्य भी ठीक होता है। पेट ठीक होता है, तो गुस्सा भी ठीक होता है। दोनों बातें स्वास्थ्य से जुड़ी हुई हैं—शरीर का स्वास्थ्य और मन का स्वास्थ्य। शरीर के स्वास्थ्य का मुख्य संबंध हमारे पेट से है और मन के स्वास्थ्य का मुख्य संबंध भी हमारे पेट से है। यदि पेट वास्तव में ठीक रहता है, तो दोनों बातें ठीक हो जाती हैं। पेट को ठीक करने का अर्थ है—भोजन को ठीक करना। भोजन ठीक नहीं है, तो पेट भी ठीक नहीं है और पेट ठीक नहीं है, तो स्वास्थ्य ठीक नहीं है और पेट यदि ठीक नहीं है तो मानिए कि मन की स्थिति भी ठीक नहीं है।

हम यह मानें कि समस्याओं का समाधान हमें अपने ही स्रावों में खोजना होगा। जैन आचार्यों ने इस समाधान को खोजा और उन्होंने विस्तार के साथ कर्म-विपाकों का वर्णन किया, कर्म-विपाक का विवचेन किया। आज के विज्ञान की भाषा में यही कर्म-विपाक अंतःस्रावी ग्रंथियों का स्राव हैं। रसायन है—कर्म का अनुभाव बंध। कर्म का जो रस आता है, वह हमारी चेतना को प्रभावित करता है। वह रस आता है—ग्रंथियों के माध्यम से। हठयोग ने इसे अमृत कहा है। गोरख पद्धति में, हठयोग के अन्यान्य ग्रंथों में इस स्राव की बहुत चर्चा मिलती है। अमृतपान की चर्चा मिलती है, सोमरस की चर्चा मिलती है। सोमरस क्या है? यह हमारे मस्तिष्क से होने वाला स्राव है। तालु की समरेखा में अमृत का स्राव होता है—यह गोरख पद्धति का एक उल्लेख है। यह स्राव 'पीनियल' ग्रंथि का स्राव है, 'पिच्यूटरी' का स्राव है। समरेखा में ये दोनों प्रकार के स्राव होते हैं। ये स्राव हमें प्रभावित करते हैं। आज का शरीर-विज्ञानी बतलाएगा कि जब तक 'हाईपोथेलेमस', 'पिच्यूटरी' या 'पीनियल' से 'हारमोंस' का स्राव नहीं होता है, तो 'एड्रीनल', 'गोनाड्स'—'ग्लेंड्स' कुछ भी काम नहीं कर पाएंगी। ये वहां से अपना स्राव करती हैं, तब 'एड्रीनल' में वृत्तियां जागती हैं और 'गोनाड्स' में वासना जागती है। काम का होना, वृत्तियों का विकसित होना—दोनों इन पर निर्भर हैं, किंतु ये निर्भर हैं—ऊपर के स्रावों पर। उन स्रावों पर जब अनुशासन हो जाता है, तो वृत्तियों पर अनुशासन हो सकता है।

मेरा अपना अनुभव और चिंतन बताता है कि हजार बार कहने से जो काम नहीं होता, वह एक स्राव को बदल देने से हो सकता है। हजार बार कहा जाए कि गुस्सा मत करो, पर जब तक भीतर का स्राव नहीं बदल जाता—गुस्सा छुड़ाने में सफलता नहीं मिलती। स्राव मस्तिष्क को इतना प्रभावित करता है कि जो बात कही जाती है, वह टिकती ही नहीं। ऐसा इसलिए होता है कि भीतर के स्रावों का संतुलन नहीं है। हमारी ग्रंथियों के स्राव का संतुलन बिगड़ा हुआ है। किन्हीं वृत्तियों के कारण यदि बार-बार पेट पर, पेडू पर, नाभि पर या पेट के नीचे के भाग पर ध्यान जाएगा तो ग्रंथियों का संतुलन बिगड़ जाएगा। आज के डाक्टर, आज के वैज्ञानिक इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि अच्छे और बुरे विचारों के द्वारा ग्रंथियों में असंतुलन पैदा होता है। बुरे विचार होते हैं तो भी संतुलन बिगड़ता है और अच्छे विचार होते हैं तो भी संतुलन नहीं रहता। जब हमारा 'सेंट्रल

नर्वस सिस्टम' बिल्कुल असंतुलित हो जाता है तो डर ज्यादा लगता है। क्रोध की मात्रा ज्यादा होती है तो सारा ग्रंथितंत्र अस्त-व्यस्त हो जाता है। मस्तिष्क के स्नायु भी अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। विचारों के साथ इनका संबंध जुड़ा हुआ है। अतः बुरे विचारों को छोड़ना धर्म की बात नहीं है और न अध्यात्म की ही बात है। बुरे विचार को छोड़ना अपने स्वास्थ्य की बात है।

जैन आचार्यों ने इस पर बहुत विचार किया। यह भी बतलाया कि हृदय का अवरोध क्यों होता है? इसका मुख्य कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा कि—मानसिक उपघात के द्वारा हृदय की बीमारियां होती हैं। मानसिक क्षोभ और मानसिक आघात जितना ज्यादा होता है, उतना ही हृदय पर ज्यादा दबाव पड़ता है। हृदय अपना काम करने से कभी नहीं थकता, किंतु मानसिक दबाव उस पर इतना भार डालता है कि हृदय बेचारा निष्क्रिय हो जाता है।

विचार हमें प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार का हमारा विचार होता है, उस प्रकार के परमाणुओं का हम आकर्षण करते हैं। बुरा विचार होता है तो बुरे विचार के परमाणु आते हैं, अच्छे विचार होते हैं तो अच्छे विचारों के परमाणु आते हैं। जो बुरे प्रकार के परमाणु आते हैं, वे सबसे पहले हृदय पर आघात पहुंचाते हैं। बुरे विचारों को बदलना और अच्छे विचारों को लाना बहुत अच्छी बात है। हम चाहते हैं कि बुरे विचार छूटें और अच्छे विचार आएं, पर कैसे आएं? स्राव को बदलने का बहुत सीधा-सा उपाय है कि दीर्घश्वास का प्रयोग शुरू किया जाए, तब स्राव बदलने लग जाएगा। श्वास की क्रिया जैसे-जैसे मंद होती है, हमारी चेतना वर्तमान में आ जाती है। चेतना को वर्तमान में लाने का बहुत अच्छा साधन है—श्वास का अभ्यास।

वर्तमान में जीने का सबसे पहला सूत्र है—श्वास। जिस व्यक्ति ने श्वास को पकड़ लिया, उसने अपनी चेतना को वर्तमान का आयाम दे दिया। जिसकी चेतना वर्तमान में रहेगी, वह न अतीत की स्मृतियों में उलझेगी, न भविष्य की कल्पना में उलझेगी। उसकी चेतना ज्यादा से ज्यादा वर्तमान में रह सकेगी। जिसकी चेतना वर्तमान में रहने लग गई, उस व्यक्ति ने अपने स्रावों पर नियंत्रण की चाबी अपने हाथ में ले ली। फिर वह जब चाहे, तब स्रावों को बदल सकता है। जब लगे कि वासना जाग रही है, तो तत्काल दीर्घश्वास का प्रयोग शुरू करें, 'पीनियल' और 'पिच्यूटरी' को वर्तमान की स्थिति में ले आएं—वासना समाप्त हो जाएगी। उस समय राग-द्वेष से मुक्त हो जाएंगे, तब न प्रियता का संवेदन होगा, न अप्रियता का संवेदन। केवल अपने अस्तित्व का अनुभव शेष रहेगा।

प्रत्येक वृत्ति के जागरण के समय, प्रत्येक कामना, वासना और तुच्छता की भावना के समय यदि दीर्घश्वास, शरीर-प्रेक्षा, चैतन्य-केंद्र-प्रेक्षा और विशेषतः नासाग्र, भृकुटि और ललाट का मध्यभाग—इन पर चेतना को केंद्रित करलें, तो स्राव बदल जाएंगे।

जो काम विचार नहीं कर सकते, वह वर्तमान की चेतना कर सकती है, चित्त कर सकता है। चेतना का जैसे ही परिवर्तन हुआ, स्राव का परिवर्तन हो जाएगा और स्राव का परिवर्तन हुआ कि वृत्तियों का परिवर्तन हो जाएगा।

इस पूरे परिवर्तन के लिए हमें मानसिक समस्याओं को समझना, उनके स्वरूप, उनकी क्रिया, उनके स्रोत और उनके पीछे रहे स्रावों को समझना और उन को बदलने की प्रक्रिया को समझना होगा। यह पूरी शृंखला जब हमारे हाथ में आ जाती है, तो उस स्थिति में हम कह सकते हैं कि ध्यान का अभ्यास करने वाला अपना भाग्य-विधाता एवं अपने व्यक्तित्व का निर्माता बन सकता है। ध्यान की शिक्षा पाने वाला, ध्यान का प्रयोग करने वाला, अपने संचालन को हाथ में ले लेता है। वह जब, जैसा चाहे—अपने जीवन की यात्रा को आगे बढ़ा सकता है और उसमें आने वाली सारी बाधाओं को पार कर सकता है। इसके लिए आवश्यकता है—शरीर का शिथिलीकरण, मौन, मन की एकाग्रता और निर्विचारता। निर्विचारता का जो मूल्य होता है, वह विचार का नहीं होता तथा जो विचार का होता है, वह भाषा का नहीं होता और जो भाषा का होता है—वह क्रिया का नहीं होता। निर्विचारता की स्थिति ही चेतना की सबसे बड़ी स्थिति है।

शिक्षा के माध्यम से चेतना की ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेना ही वास्तविक शिक्षा है। ❖

स्त्री और पुरुष, दोनों के जीवन का उद्देश्य एक ही है—परिपूर्णता प्राप्त करना। स्त्री को स्त्री और पुरुष, दोनों बनना पड़ेगा। और पुरुष को पुरुष और स्त्री, दोनों बनना पड़ेगा। तभी दोनों का पूर्ण विकास होगा। परिपूर्ण बनने की पद्धति ही ऐसी है।

—विनोबा भावे

धर्म, समाज और बुद्धिजीवी बेचैनी

नासिरा शर्मा

जब हम प्रश्न के पीछे के परिवेश, परिप्रेक्ष्य, इतिहास, मानवीय विकास के आर्थिक पहलू एवं समाज की संवेदना और मानसिकता की पड़ताल करते हैं, तो हमें पर्त-दर-पर्त कारणों का वृत्तांत नजर आने लगता है। जवाब एक नहीं बन पाता है, बल्कि गुजरा समय सारी घटनाओं सहित हमें फिर एक प्रश्न के सम्मुख खड़ा कर देता है कि आखिर सारी प्रगति के बाद इंसान क्यों सियासत के हाथों बंदी बन अपनी ही जड़ें खोखली करने लगता है? क्यों नहीं समझ पाता है कि इन सारे बेकार के झंझटों से उसका कोई फायदा होने वाला नहीं है, बल्कि वह जाने-अनजाने में उस व्यवस्था को मजबूत कर रहा है—जिसके विरोध में वह लिखता, पढ़ता, बोलता और लगातार समझौता करने से इंकार करता आया है?

इंसान अपने आदिम दौर में, एक बड़े कुनबे की शक्ल में रहता था। जहां पर जो उसका था, वह सबका था। अपना-पराया जैसा कुछ न था। जैसे-जैसे विकास का पहिया घूमता गया, अधिकार की बढ़ती चेतना ने कई तरह के बंटवारे कर इंसानों को परिवार की इकाइयों में बांटना शुरू कर दिया। बराबर से अपना-अपना 'भाग' पाने वालों ने इंसानी सत्ता नकार कर अपने लिए एक अदद 'भगवान' पैदा कर लिया जो आंधी और तूफान के देवता का ही नया रूप था। भाग्य और भगवान ने धर्म द्वारा नए नियम उन्हें बताए कि वह कैसे जिंदगी गुजारें। कानून ने उनके जंगलीपन पर अंकुश लगाने शुरू किए। समय के गुजरने के साथ नए-नए धर्म जन्म लेने लगे। कुछ प्राचीन धर्म पुराने पड़ इतिहास बनते चले गए। शिक्षा ने तर्क और ज्ञान की क्षमता दी, विज्ञान ने एक आरामदेह जिंदगी की व्यवस्था प्रदान करके इंसान को एक नई शक्ति दी। इन सारी सुख-सुविधाओं और प्रगति के विकसित होते रात-दिन की दौड़ के बावजूद, धर्म की निष्ठा से मिले सुख के आध्यात्मिक अनुभव से इंसान मुकर नहीं सका।

यही धर्म जो उसकी आत्मा का बल जब 'सत्ता' बन उसकी आध्यात्मिक सोच और शांति को भंग कर उसकी सुरक्षा को चुनौती देने लगा तो उसका तर्कशास्त्र जाग उठा कि वह उस पुराने संबंध को जीवित रखे या फिर उसकी जगह पर मिले ज्ञान के नित्य नए आविष्कारों को नजर में रख मानवीय संबंधों को महत्त्व दे? यह प्रश्न पढ़े-लिखे दिमागों में आतंक की तरह छाने लगा। पूरा मानव समाज विचार के धरातल पर बंटने लगा। कुछ लोगों ने इंसानों के बीच बढ़ती द्वेष भावना देख धर्म की निंदा करनी शुरू कर दी। कुछ ने विद्रोह कर उसे अपने जीवन से खारिज कर दिया और कुछ लोग धर्म को और गहरे अपना कर धर्म और सत्ता के संबंधों की विवेचना करने लगे। एक विशेष वर्ग इस खून-खराबे, शत्रुता और धर्म युद्ध के नंगे नाच से आहत हो सूफीवाद का लबादा ओढ़ बैठा और उस पुराने कुनबे की

याद में रमने लगा, जब सब एक परिवार से थे, सब एक थे। जो महत्त्वपूर्ण था—वह इंसानियत थी।

शताब्दियां नित्य नए अनुभवों के साथ गुजरने लगीं। खट्टे-मीठे अनुभवों से गुजरने के बाद पीढ़ियां अपने को धर्म से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं करा पाईं। धर्म न केवल उनकी सोच का हिस्सा बन गया, बल्कि उनकी रोज की जिंदगी में दाखिल हो, इस तरह घुल-मिल गया कि उसे अपने से अलग करना और उसे पूरी तरह से खारिज कर देना नामुमकिन-सा लगा। जीवन में धर्म के इसी गहरे हस्तक्षेप ने उन लोगों को उकसाया, जिनके मन में सत्ता में बने रहने की लालसा थी। उन्होंने धर्म को अपना 'सत्ता वाहन' बनाया। इसी बीच धर्म, विशेष वर्ग की रोटी का साधन भी बन गया।

दोनों वर्गों के लिए यह अहम मुद्दा था कि वह आम जनता को अंधविश्वासी और जड़ बनाए रखें। एक उन्हें अपनी पहचान का भय दिखाता, तो दूसरा दुआ, ताबीज और अपनी व्याख्या में उन्हें उलझा यह समझाता कि खुदा उनकी मुट्ठी में है। इस दो तरफ की रस्साकशी में आम आदमी का चकराना जरूरी था। उसके पास शिक्षा थी नहीं, मेहनत-मजदूरी में लगे रहने से उसके पास समय भी नहीं था। इसलिए उसका सीधा संबंध भगवान और उसकी पवित्र पुस्तक से कट कर केवल उन नेताओं तक सीमित रह गया जो देश और धर्म, दोनों के पालनहार बने बैठे थे।

भेड़ चाल की इसी मनोवृत्ति को देख कर धर्म को 'अफीम' कहा जाने लगा। धर्म को एक ऐसी पहचान मिल गई जो रूढ़िग्रस्त, जड़ता और पिछड़ेपन से गर्दन तक डूबी हुई थी। निम्न एवं निम्न मध्यवर्ग के पास पेट के बाद दूसरा सच था—जो धर्म था। जिसमें उन्हें अपनी मुक्ति का रास्ता दिखता था। पढ़े-लिखे वर्ग से उनकी दूरी बढ़ती गई और बात यहां तक पहुंच गई कि एक ही धर्म वालों ने वर्गों की असमानता के चलते एक-दूसरे को धर्म-भाई मानने से इनकार कर दिया। यह मानसिकता भी राजनेता एवं धर्म-नेता के पक्ष में जाती थी। समाज जितने टुकड़ों में बंटेगा, उतनी ही शक्ति से उनकी सत्ता बढ़ेगी।

यह सच है कि दुनिया गतिशील है। प्रगति के रोज बढ़ते चरण और विविध विधाओं ने, अनेक विषयों की मौलिकता ने मध्य वर्ग, ऊंचे वर्ग को भी इतना व्यस्त कर दिया कि वह पुराना बदलने और बोसीदा छोड़ने की दौड़ में धर्म को भुला बैठे। उनके पास ज्ञान का सागर या जिसको उन्हें पाना था, 'प्राचीन ज्ञान' पर वह अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहते थे। जिसका नतीजा यह निकला कि वह चाहे-अनचाहे धर्म के उसी संकीर्ण-संकुचित दायरे को धर्म मान बैठे, जिसने अपने लिए बाजार पैदा कर लिया था। मृत्यु, जन्म, विवाह और समस्या के समाधान के समय उसे मजबूरन मुल्ला-पंडित का मुख देखना पड़ता था। धीरे-धीरे करके वह सबकुछ धर्म में शामिल होने लगा, जिसके विरोध में ही कभी धर्म वजूद में आया था। बड़े-बड़े विद्वानों के पास इतना समय नहीं था कि वह धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन कर अपने पुरातन ज्ञान का संदर्भ ज्ञान सच और झूठ का पता लगा पाते। यह स्थिति भी दोनों पक्षों के लाभ में जाने लगी।

वैभवपूर्ण कर्मकांड नए अमीर हुए लोगों की शान बनती चली गई। वह भूमिका, जो धर्म को निभानी थी, उसका लोप होता चला गया और धर्म सत्ता के साथ-साथ धन से भी संबंध बना बैठा। जिसने धर्म के प्रति कई भ्रांतियां उत्पन्न करा दीं। धर्म का संग अब उन बुराइयों के साथ हो लिया था, जिससे पढ़ा-लिखा वर्ग अपनी पहचान नहीं बनाना चाहता था। इसका अंजाम यह निकला कि बुद्धिजीवी वर्ग पूर्ण रूप से इस प्राचीन ज्ञान से विमुख होता चला गया जो उसके प्रारंभिक दौर का साक्षी था।

हम व्यक्तिगत रूप से धर्म के प्रति जो भी नजरिया रखना चाहें, वह हमारा निजी सरोकार है, मगर जब हम समाज की नजर से देखते हैं तो हम उस जनता के सामूहिक लाभ-हानि, सोच-विचार को महत्त्वपूर्ण मानते हैं—जो एक झुंड, एक गिरोह के रूप में हमारे सामने होता है। भारतीय जनता, वह चाहे जिस धर्म को मानने वाली क्यों न हो, उसका मिजाज देख कर हम कह सकते हैं कि वह 'धार्मिक आस्था' वाली है। उसका विश्वास धर्म पर, कर्मकांड और रीति-रिवाजों पर है। इसका प्रमाण हमें पिछले वर्षों में दो बार मिला। शाहबानों केस और रूपकुंवर का जिंदा जलना। दोनों ही घटनाओं ने उन बुद्धिजीवियों को बुरी तरह हिला दिया, जो लेखन और विचार से अंधेरे को दूर भगा चुके थे। उन्हें पहली बार महसूस हुआ कि कागज पर कानून लिख देने से मानसिकता नहीं बदल पाती। नए-नए आविष्कार कर लेने के बाद आम इंसानों से उनकी रीतियां नहीं छीनी जा सकती है—चाहे वह कितनी भी रूढ़िवादी, अमानवीय हों।

यह एक जटिल गुत्थी है कि धर्म की जड़ता और

रूढ़िवादीता से 'व्यक्ति' मुक्त हो जाता है, मगर समाज नहीं। आखिर सामूहिक रूप से यह हार किन कारणों से बार-बार होती है? जब कहीं कोई घटना घटती है, तो उसमें धर्म का हस्तक्षेप 'फतवा' की हद तक तानाशाही का रूप धर बैठता है और सबकुछ पल भर में ही अपना चोला बदल लेता है। बहुत सोच-विचार करने के बाद इस नतीजे पर पहुंचे कि इस हार का सबसे बड़ा कारण अज्ञानता है। फैसला आपके बारे में दिया जाने वाला है, मगर आपको कानून का ज्ञान नहीं।

इसीलिए आज भारतवर्ष में धर्म के नाम पर एक सियासी शक्ति अपने पैर जमा रही है, क्योंकि धर्म को पुराना कहना और नकार देना बहुत आसान है, मगर उससे तर्क और कानून के स्तर पर जूझना कठिन काम है। तभी राजनेता एवं धर्म-नेता बुद्धिजीवी वर्ग की अथाह कोशिशों के बावजूद अपने को शक्तिशाली पा रहे हैं और आम इंसान अपनी मुक्ति की राह नहीं खोज पा रहा है। तभी हर घर में आपको 'टी.वी.', 'रेफ्रीजरेटर', 'गैस', 'ए.सी.', 'कूलर', 'सोफे' जरूर सजे मिलेंगे, मगर उनकी औलादों के पास डिग्रियां नहीं होंगी। उनके और उनकी औरतों के दिमाग जिहालत की उन सारी खूबियों से भरे होंगे—जिसको आप कुंठा, संकीर्णता, उन्माद, कट्टरपन से परिभाषित करते हैं। उनके पास ऐसा कोई नजरिया नहीं होता, जो उन्हें अपनी चहारदीवारी से बाहर भी देखने के लिए मजबूर करे।

पिछले दशकों से विश्व स्तर पर धर्म का उन्माद बढ़ रहा है। ऐसा बिल्कुल नहीं है कि लोग एकाएक धार्मिक हो रहे हैं, बल्कि सियासत जिस व्यवस्था को मजबूत करना चाहती है—उसमें धर्म के नाम का मसाला सबसे अहम भूमिका अदा करता है, जिसका कुछ भी लेना-देना धर्म से न होकर, सत्ता और रोटी से है। उस रोटी से नहीं, जिसको पाने के लिए मजदूर अपना खून पसीने की शक्ल में बहाता है। बल्कि, यह वह रोटी है जो 'हवस' के रूप में पेट भरो की जरूरत बनती जा रही है, जो उन्हें आरामदेह जिंदगी के साथ अय्यासी से जीने के लिए हर तरह के समझौते करने पर मजबूर करती है। उनके लिए धर्म और नैतिकता की अपनी परिभाषा होती है, जो उनको स्वार्थी स्वभाव के अनुसार अपना मानक खुद चुनती है। जो समय के साथ, सत्ता के साथ, बदलती सरकार के साथ बराबर रंग बदलती है। प्रश्न उठता है कि इससे निपटा कैसे जाए?

जब हम प्रश्न के पीछे के परिवेश, परिप्रेक्ष्य, इतिहास, मानवीय विकास के आर्थिक पहलू एवं समाज की संवेदना और मानसिकता की पड़ताल करते हैं, तो हमें पर्त-दर-पर्त कारणों का वृत्तांत नजर आने लगता है। जवाब एक नहीं बन पाता है, बल्कि गुजरा समय सारी घटनाओं सहित हमें फिर एक प्रश्न के सम्मुख खड़ा कर देता है कि आखिर सारी प्रगति के बाद इंसान क्यों सियासत के हाथों बंदी बन अपनी ही जड़ें खोखली करने लगता है? क्यों नहीं समझ पाता है कि इन सारे बेकार के झंझटों से उसका कोई फायदा होने वाला नहीं है, बल्कि वह जाने-अनजाने में उस व्यवस्था को मजबूत कर रहा है—जिसके विरोध में वह लिखता, पढ़ता, बोलता और लगातार समझौता करने से इंकार करता आया है? फिर?

इस 'फिर' के जवाब में कई और प्रश्न हमारे सामने आन खड़े होते हैं। जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि आज हम वर्तमान में खड़े होकर भविष्य को देखते हैं। पीछे मुड़ कर देखना हमारे लिए सबसे 'खतरनाक' कदम हो सकता है, क्योंकि पीछे जो हम छोड़ आए हैं—वह पिछड़ा, बोसीदा, बेकार है। मगर, अजीब बात है कि वह चेतना के धरातल पर तो हम से पीछे छूट जाता है, लेकिन रोजाना की जिंदगी में उसका दखल बढ़ता ही जाता है। शतुरमुर्ग की तरह अपने को भले धोखा दे लें, मगर उससे यथार्थ का चेहरा तो नहीं बदला जा सकता है? सहज प्रक्रिया के रूप में यदि कुछ पुराना होकर झरता है, तो यह प्रकृति का नियम है कि पतझड़ के बाद कोंपलें तो फूटेंगी। यदि यही ऋतु-चक्र हम जबर्दस्ती अपनाएंगे, तो कच्चापन हमें समय की सहज गति से दूर फेंक देगा और हम बहुत बड़े बिखराव का शिकार बन जाएंगे।

जब हम पिछले पचास वर्षों को देखते हैं, तो लगता है कि 'समय' ने ही कई बार करवट बदली है। आंदोलनों के मुद्दे हल होकर भी आज दोबारा संघर्ष के लिए तैयार हैं। एक तरफ धर्म का उन्माद बढ़ रहा है, तो उसी समाज में लोग विमुख हो रहे हैं। एक कदम आगे और दो कदम पीछे नहीं चल रहे हैं, बल्कि संतुलन की जगह सबकुछ तोड़ देने की जो प्रवृत्ति काम कर रही है, वह नया कुछ देने के बारे में न सोच पा रही है और न ही उसके पास कोई नई योजना है। उसका कारण भी है, जो शक्ति नया कुछ लाने और बनाने के सामर्थ्य में है, उसका सारा बल समाज में उठते तूफान को शांत करने में लग जाता है। बंटवारे के बाद से लगातार

शेष पृष्ठ 24 पर

अनेकांतवाद : अनुभवमूलक सिद्धांत; तर्क नहीं

❑

वीना जैन

वैज्ञानिक जगत ने भी इस बात को एक मत से स्वीकार किया है कि हम वस्तु के स्वरूप को एकांत दृष्टि से नहीं, अपितु अनेकांत दृष्टि से ही जान सकते हैं और विश्लेषण कर सकते हैं। विज्ञान की प्रयोगशाला में यह तथ्य सामने आया है कि वस्तु में अनेक धर्म और गुण भरे हुए हैं। अपने समय के प्रमुख वैज्ञानिक आइंस्टाइन आदि ने समस्त विश्व में व्याप्त सापेक्षता के सिद्धांत की खोज द्वारा एक छोटे-से परमाणु तक में अनंत शक्ति और गुणों का होना सिद्ध किया है। वैज्ञानिकों द्वारा इस सापेक्ष स्थिति को समझने के लिए पाश्चात्य विचारक प्रो. एडिंगटन ने अपने ग्रंथ—'नेचर ऑफ फिलोसफि वर्ल्ड'—में लिखा है कि—'सापेक्ष स्थिति को समझने के लिए सबसे सहज और सरल उदाहरण किसी पदार्थ की दिशा को लिया जा सकता है।' अनेकांतवाद का भी यह मत है कि किसी एक पक्ष की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसके प्रतिभासित, विरोधी पक्ष की सत्ता को भी स्वीकार किया जाए।

हमारा ज्ञान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी की अपेक्षा बहुत सीमित है। इसीलिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा उपाचार और विचार एवं व्यवहार के प्रत्येक मोड़ पर 'हां' (अस्ति—है) और 'ना' (नास्ति—नहीं है) के साथ चलना पड़ता है। यह 'हां' और 'ना' आपेक्षिक होता है। यह आपेक्षिक दृष्टि प्रतिभासित सत्य को स्वीकार करते हुए अन्य सत्यांशों के लिए अनाग्रह का उदार दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। यही अनेकांत दर्शन या सापेक्ष सिद्धांत है।[1] किसी एक पक्ष (पहलू) के सत्यांश के प्रति आग्रहशील न रह कर उदारतापूर्वक अन्य पक्षों एवं सत्यांशों के बारे में अपेक्षापूर्वक सोचने, समझने और कहने के लिए भगवान महावीर ने 'अनेकांतवाद' का सिद्धांत प्रतिपादित किया है।[2] अनेकांतवाद जैनदर्शन की चिंतनधारा का मूल स्रोत है, जैनदर्शन का हृदय है। जैन-दर्शन का एक भी ऐसा वाक्य नहीं जिसमें अनेकांतवाद का प्राणतत्त्व न हो। यदि यह कह दिया जाए तो तनिक भी अतिश्योक्ति नहीं होगी कि जहां जैन धर्म है, वहां अनेकांतवाद है और जहां अनेकांतवाद है, वहां जैन धर्म है। ये दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। यही कारण है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मति प्रकरण ग्रंथ में अनेकांतवाद को नमस्कार करते हुए उसे त्रिभुवन का, अखिल ब्रह्मांड का गुरु कहा है। अनेकांत के बिना संसार का कोई भी व्यवहार उचित रूप से सिद्ध नहीं हो सकता।[3] अनेकांत तर्क का सिद्धांत नहीं, अपितु अनुभवमूलक सिद्धांत है।

श्रमण महावीर दीक्षा कल्याणक
मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी : 11 नवंबर

जैनदर्शन में आचार और विचार, दो पक्ष प्रमुख माने गए हैं। इसमें

से आचार पक्ष का मूलाधार अहिंसा और विचार पक्ष का मूलाधार अनेकांत को माना गया है। वस्तु में अनंत धर्म होते हैं, उनमें से किसी एक धर्म के प्रति आग्रह न रख कर अपेक्षा दृष्टि से सभी धर्मों को समान समझना अनेकांत दृष्टि है और स्याद्वाद भाषा प्रधान है। जब तक दृष्टि विचार रूप है, तब तक वह अनेकांत है और जब वह दृष्टि भाषा का परिधान पहनती है—तब वह स्याद्वाद है। अनेकांत दृष्टि की अभिव्यक्ति की पद्धति स्याद्वाद है। विचार के क्षेत्र में अनेकांत इतना व्यापक है कि विश्व के समग्र दर्शनों का इसमें समावेश हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन लिखते हैं कि 'इस अनेकांत के बिना लोक का व्यवहार चल नहीं सकता।'[4] अनेकांत का आलोक हमें निराशा के अंधकार से बचाता है। वह हमें ऐसी विचारधारा की ओर ले जाता है जहां पर सभी प्रकार के विरोधों का उपशमन हो सकता है। महान दार्शनिक समंतभद्र, सिद्धसेन आदि ने अनेकांत दृष्टि से अवलोकन करके ही सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ आदि विरोधी वादों का तर्कसंगत समन्वय किया और विचार की एक शुद्ध व्यापक बुद्धि संगत और निष्पक्ष दृष्टि प्रदान की। अनेकांतवाद की इस विशिष्टता को हृदयंगम करके ही जैन दार्शनिकों ने उसे अपने विचार का मूलाधार बनाया है। प्रसिद्ध विद्वान उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है—'सच्चा अनेकांतवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं कर सकता। वह दर्शनों को इस वात्सल्य दृष्टि से देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है। अनेकांतवादी न किसी को कम और न किसी को अधिक समझता है'—उसका सबके प्रति समभाव होता है।[5]

अनेकांत का अर्थ

अनेकांतवाद का अर्थ है—अन+एक+अंत+वाद—अर्थात् वस्तु के अनेक धर्म को कथन करने वाला सिद्धांत।[6] अनेकांतवाद द्वारा आपेक्षिक दृष्टि से कथन प्रणाली को स्वीकार करने का कारण यह है कि वस्तु स्वयं सापेक्ष भाव से अनेक धर्मात्मक है। जो वस्तु नित्य प्रतीत होती है, वह अनित्य भी है। जो वस्तु क्षणिक दिखाई देती है, वह नित्य भी है। अनित्यता के अभाव में नित्यता की प्रतीति नहीं हो सकती और नित्यता के अभाव में अनित्यता का ज्ञान नहीं हो सकता है। एक की प्रतीति दूसरे की प्रतीति से संभव है। वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने के कारण को बताते हुए भगवान महावीर ने कहा है—वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों तत्त्वों की सत्ता है और वह सापेक्ष दृष्टि से जानी जाती है। इन तीनों तत्त्वों से युक्त ही वस्तु का स्वरूप है।[7] द्रव्य में उत्पाद और व्यय से होने वाली अवस्थाओं को पर्याय और उन पर्यायों के कारण को गुण कहते हैं। गुण कभी नष्ट नहीं होते और न ही अपने स्वभाव को बदलते हैं, किंतु पर्यायों के द्वारा अवस्था में अवस्थांतर होते हुए सदैव स्थिर रहते हैं। जैसे सोना एक द्रव्य है—किसी ने उसके कड़े बनवाए और फिर उस कड़े की अवस्था को बदलकर (व्यय होकर) जंजीर बनवा ली, या कुछ और यानी उस नई अवस्था का उत्पाद हो गया। लेकिन, इन दोनों अवस्थाओं में भी स्वर्णत्व गुण स्थाई रूप से विद्यमान है। कड़े और जंजीर, दोनों स्थितियों में वह अवस्थाएं बदलने पर भी स्वर्ण ही है। इसी प्रकार से उस सोने से जो भी गहने बनेंगे तो अवस्थाएं बदलेंगी, लेकिन स्वर्णत्व कभी नष्ट नहीं होगा। यही बात विश्व के प्रत्येक द्रव्य के बारे में कही जा सकती है। जैसे दूध से दही बनाना दूध का विनाश है, और दही की उत्पत्ति (उत्पाद) है, पर गौरस दोनों में विद्यमान (ध्रौव्य) है। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मकता विश्व की प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्मों के होने के कारण है और जब वस्तु अनेक धर्मात्मक है तो उसको अनेकांतवाद की शैली के द्वारा ही समझाया जा सकता है।[8]

वस्तु का स्वभाव ही अनेकांतात्मक है। वस्तु बहुआयामी होती है। उदाहरण के लिए मिट्टी एवं पानी में हमें जो रंग प्रतीत नहीं होते वे गुलाब के पुष्प में कैसे आ जाते हैं। इसके पीछे कारण यह है कि मिट्टी एवं पानी में भी बहु-आयामिता है। गुलाब के फूल के रंग उनमें भी किसी अंश में विद्यमान हैं। भगवती सूत्र में उल्लेख आता है कि गुड़ का स्वाद कैसा है, यह कहना कठिन है। यह मीठा भी है और कुछ अंशों में खट्टा भी है। यही नहीं, मिठास के अंशों में भी हजारों तरह का भेद होता है। जब वस्तु का स्वभाव ही अनेक रूपात्मक है, तो उसके ज्ञान के लिए हमें अनेकांत दृष्टि ही अपनानी होगी। एक ओर वस्तु में बहुआयामिता है, तो दूसरी ओर हमारे कथन या भाषा की सीमा भी है। कोई भी कथन किसी न किसी दृष्टिकोण से कहा जा सकता है। इस तरह किसी वस्तु को हम किसी कोण से जानते हैं। हमारे ज्ञान एवं कथन में किसी दृष्टिकोण से सत्यता है, तो दूसरे के कथन एवं ज्ञान में भी सत्यता की संभावना रहती है। इस तरह यदि अनेकांतवाद को स्वीकार कर लिया जाए तो पारस्परिक टकराव को टाला जा सकता

है। अनेकांतवाद में अहंकार-युक्त एवं पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण को स्थान ही नहीं है। सही बोध के लिए हमें प्रतिपक्षी के दृष्टिकोण को समझना ही होगा। एक ही व्यक्ति के विभिन्न कोणों से भिन्न-भिन्न चित्र खींचे जा सकते हैं, उसमें कथंचित अंतर होते हुए भी, वे फोटो उसी व्यक्ति के कहलाते हैं। अनेकांतवाद का यही मर्म है। अनेकांतवाद सामंजस्य, समन्वय एवं सत्य को समझने का मार्ग प्रशस्त करता है।[9]

अपनी मौलिकता के कारण प्राणीमात्र के जीवन की व्याप्ति और उसके प्रत्येक आचार-विचार व व्यवहार के अच्छे-बुरे सत्यस्वरूप की कसौटी अनेकांतवाद के द्वारा की जा सकती है। इतना ही नहीं, जीव-अजीव, लोक-द्रव्य आदि की नित्यता-अनित्यता, एक-अनेक, अस्तित्व-नास्तित्व जैसे दर्शन की विकट पहेलियों को सरलतापूर्वक सुलझाया जा सकता है।[10] द्रव्यों में विद्यमान विविध गुणों के लिए अनेकांतवाद के कुछ मननीय उदाहरण भी हैं—जैसे गौतम ने पूछा कि—'भगवन! आर्द्र गुड़ में कितने वर्ण, कितने गंध, कितने रस और कितने स्पर्श हैं?' भगवान महावीर ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'दो नय—निश्चय नय व व्यवहार नय है। व्यवहार नय से आर्द्र गुड़ में मधुरता है और निश्चय नय से पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श हैं।' इसी प्रकार वर्ण गुण के बारे में कहा है कि व्यवहार गुण की दृष्टि से भ्रमर काला है, एक वर्ण वाला है। किंतु, निश्चय नय की दृष्टि से उसमें श्वेत, कृष्ण, नील आदि पांचों वर्ण हैं।

निश्चय और व्यवहार नय का विश्लेषण हमें यही बताता है कि सत् उतना ही नहीं है, जितना वह हमें इंद्रियों के माध्यम से प्रतीत होता है और बुद्धि उसके स्वरूप का निश्चय करती है।[11] अनेकांतवाद का प्रयोग न केवल तत्त्व ज्ञान और चिंतन के क्षेत्र में किया गया है, वरन आचार की अनेक समस्याओं को सुलझाने में किया है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—यदि कोई कहे कि—'मैं सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव, सर्वतत्त्व की हिंसा का प्रत्याख्यान करता हूं—तो क्या उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, या दुष्प्रत्याख्यान?' भगवान महावीर ने कहा कि—'जिसको यह ज्ञान नहीं होता कि ये जीव हैं या अजीव, त्रस हैं या स्थावर—उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान व मृषावादी है, किंतु जो यह जानता है कि ये जीव हैं, अजीव हैं, त्रस हैं और स्थावर हैं—उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान व सत्यवादी है।'

एक बार एक तत्त्वज्ञ श्राविका ने पूछा कि सोना अच्छा है या जागना?[12] भगवान महावीर ने कहा कि—जो जीव अधार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका सोना अच्छा है। क्योंकि वे अनेक जीवों को कष्ट देते हैं। जो जीव धार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका जागना अच्छा है। क्योंकि वे जीवों को सुख देते हैं तथा 'स्व', 'पर' और 'उभय' को धार्मिक अनुष्ठान में लगाते हैं। ऐसे ही आचार-विचार, व्यवहार संबंधी विरोधी प्रतीत होने वाले तथा एकत्व और अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व, सांतत्त्व और अनंतत्त्व, सत्त्व और असत्त्व धर्मों का अनेकांत दृष्टि से समन्वय किया। यह अनेकांत दृष्टि एक स्वतंत्र दृष्टि है, जिसमें वस्तु का पूर्ण स्वरूप परिज्ञात होता है और वस्तु के सभी धर्म निर्विरोध रूप से प्रतिभाषित होते हैं।[13]

अनेकांत के दार्शनिक पक्ष के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म रहते हैं। जैसे—मनुष्य अपनी बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं की दृष्टि से अलग-अलग अनुभव में आता है, लेकिन वह एक देवदत्त ही है, जो इन अलग-अलग अवस्थाओं से गुजरता है।[14] जैन आगम में और गीता में भी यह कहा गया है कि जब धर्म का नाश होता है और अधर्म बढ़ता है, तब महापुरुष का अवतार होता है।[15] **उप्पन्नइ वा विगमेइ वाधुवेइ वा**—यह तीर्थंकर का त्रिपदी रूप उपदेश है।[16] इसका अर्थ यह है कि—'उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव अर्थात् स्थिर व नित्य है।' इसमें प्रत्येक वस्तु को त्रिलक्षण परिणाम रूप बतलाया है। यह त्रिपदी अनेकांतवाद की विचार पद्धति का सार तत्त्व है। अनेकांत, स्याद्वाद एवं नयवाद के विषय के विपुल साहित्य का विस्तार है। यह त्रिपदी ही तीर्थंकर द्वारा बोया बीज है और उसी से विकसित यह अनेकांत का वट-वृक्ष है। त्रिपदी ही वह नींव है, जिस पर बाद के आचार्यों ने जैनदर्शन का भव्य प्रासाद निर्मित किया। जिसके आधारभूत विशाल स्तंभ हैं—उत्पादि त्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकांत दृष्टि, स्याद्वादी भाषा और आत्म द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता।[17] आचार्य हरिभद्र ने अनेकांत के विषय में लिखा है कि—

आग्रही बत निनीषत युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मति रेति निवेशम्।।

अर्थात् अनाग्रही एवं समभाव वाला व्यक्ति नितांत निष्पक्ष दृष्टि से वस्तु को देखने का प्रयत्न करता है। वह वस्तु के कतिपय अंशों को ही देख कर अपने को कृत-कृत्य नहीं

मानता, अपितु वह वस्तु के समग्र स्वरूप का आकलन करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि वस्तु के किसी आंशिक सौंदर्य से चकित हो पथभ्रष्ट नहीं होती, बल्कि उसके संपूर्ण स्वरूप को देखने के लिए आकुल रहती है। इस वृत्ति का प्रतिफलन ही अनेकांत का उद्भव है।[18]

अनेकांत का स्वरूप

अनेकांत का साकार रूप तभी सामने आएगा, जब दूसरों के सत्य को सहानुभूति की दृष्टि से देखेंगे। अनेकांत के बिना अहिंसा की गहराई का स्पर्श कभी नहीं हो सकता। हिंसा के मूल में एकांतिकता और आग्रह रहता है, जो हिंसा की जड़ में ही राग-द्वेष ईर्ष्या और माया को उत्पन्न करता है। अहिंसा का मूल उद्गम समत्व में होता है और समत्व ही अनेकांत का हृदय है। मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ—ये चारों भावनाएं अनेकांत-प्रासाद के चार स्तंभ है। अनेकांत वैचारिक अहिंसा का विकसित रूप है।[19] अनेकांत के उद्भवकर्ताओं ने यह अच्छी तरह अनुभव किया था कि जीवन-तत्त्व अपने में पूर्ण होते हुए भी वह कई अंशों की अखंड समष्टि है। यही स्थिति प्रत्येक वस्तु तत्त्व की भी है। अतः वस्तु को समझने के लिए अंश का समझना भी आवश्यक है। किसी मशीन को पूर्ण रूप से समझने के लिए उसके पुर्जों का समझना भी आवश्यक है।[20] यदि हम सत्य की जिज्ञासा से उसके समस्त पहलुओं को अच्छी तरह देख लें, तो कहीं-न-कहीं सत्य का अंश निकल आएगा।

अनेकांतवाद का स्पष्ट कथन है कि भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि जो दृष्टिभेद हैं—वे सर्वथा एकांत मानने से दुष्ट और किसी अपेक्षा से मानने से पुष्ट होते हैं—वस्तु स्वरूप का पोषण करते हैं। अनेकांतवाद वस्तु के विराट स्वरूप को जानने का वह प्रकार है जिसमें विवक्षित धर्म को जान कर भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया जा सकता, उन्हें गौण कर दिया जाता है। उसका कोई भी अंश कभी भी नहीं छूट पाता।[21]

अनेकांत सिद्धांत में स्याद्वाद (सापेक्षवाद) दृष्टि तथा नयदृष्टि—इन दो दृष्टियों को अपनाया गया है। अनेकांत का प्रतिपादक सिद्धांत स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद का अर्थ है—सापेक्ष सिद्धांत, अपेक्षावाद, कथंचितवाद या वह सिद्धांत जो विविध दृष्टि बिंदुओं से वस्तु तत्त्व का निरीक्षण-परीक्षण करता है। जैनाचार्यों ने स्याद्वाद को ही अपने चिंतन का आधार माना है। चिंतन की यह पद्धति हमें एकांगी विचार और निश्चय से बचा कर सर्वांगीण विचार के लिए प्रेरित करती है और इसका परिणाम यह होता है कि हम सत्य के प्रत्येक पहलू से परिचित हो जाते हैं। वस्तुतः समग्र सत्य को समझने के लिए स्याद्वाद-दृष्टि ही एकमात्र साधन है। अतः स्याद्वाद यानी अनेकांतवाद स्याद्वाद को अपनाए बिना विराट सत्य का साक्षात्कार होना संभव नहीं है। जो विचारक वस्तु के अनेक धर्मों को अपनी दृष्टि से ओझल करके, किसी एक ही धर्म को पकड़ कर अटक जाता है—वह सत्य नहीं पा सकता।[22] स्याद्वाद चिंतन की प्रक्रिया है, इसका सबसे महत्त्व का पहलू यह है कि यह हर वस्तु की यर्थाथता को सापेक्षता में ढूंढ़ता है।[23]

अनेकांत और स्याद्वाद का प्रयोग करते समय यह जागरूकता रखना आवश्यक है कि हम जिन परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता वस्तु में प्रतिपादित करते हैं, उनकी सत्ता वस्तु में संभावित है भी, या नहीं। अन्यथा कहीं हम ऐसा न कहने लगे कि कथंचित जीव चेतन है और कथंचित अचेतन भी। अचेतन तत्त्व की जीव में संभावना नहीं है। वस्तुतः चेतनत्व और अचेतनत्व परस्पर विरोधी धर्म हैं और नित्यत्व-अनित्यत्व—परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि विरोधी से प्रतीत होने वाले धर्म हैं। वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, परंतु विरोधी नहीं हैं। उनकी सत्ता द्रव्य में एक साथ पाई जाती है। अनेकांत परस्पर विरोधी से प्रतीत होने वाले धर्मों का प्रकाशन करता है। वस्तुस्थिति को देख कर ही अनेकांतवाद का उदय हुआ। अनेकांत सिद्धांत व स्याद्वाद इतना गूढ़ व गंभीर है कि इसे गहराई से सूक्ष्मता से समझे बिना इसकी तह तक पहुंचना असंभव है। क्योंकि ऊपर से देखने पर यह एकदम गलत-सा प्रतीत होता है। आचार्य समंत भद्र ने स्याद्वाद को केवल ज्ञान के समान सर्वतत्त्व प्रकाशक माना है।[24] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—यह वस्तु का स्वरूप है। यह त्रयात्मकता वस्तु की उत्पत्ति है। दूध के विनाश से दही बनता है। दूध और दही, दोनों क्रमिक पर्याएं (परिणाम) हैं।[25]

स्याद्वाद जिन विभिन्न दृष्टिकोणों का अभिव्यंजक है, वे दृष्टिकोण जैन परिभाषा में 'नय' के नाम से अभिहित होते हैं। वस्तु के अनंत धर्मों में से किसी एक धर्म का ज्ञान नय है। लेकिन, एक धर्म को ग्रहण करता हुआ भी नय दूसरे धर्मों का न निषेध करता है और न ही विधान करता है। निषेध करने पर वह दुर्नय हो जाता है। विधान करने पर

प्रमाण की कोटि में परिगणित हो जाता है। नयवाद अनेक दृष्टिकोणों से वस्तु को निरखने-परखने की कला सिखाता है।[26] आचार्य सिद्धसेन ने एक सुंदर उदाहरण दिया है कि—पृथक-पृथक रहने वाले मूल्यवान मणि रत्नावलि के नाम से वंचित रहते हैं, उसी प्रकार अपने-अपने मतों के विषय में ये नय कितने ही सुनिश्चित हों, किंतु जब तक वे अन्य पक्षों से निरपेक्ष हैं, वे सम्यक्दर्शन नाम से वंचित रहते हैं। जिस प्रकार वे ही मणि जब अपने-अपने योग्य स्थान में एक सूत्र-ग्रंथित हो जाते हैं तो अपने नामों को छोड़ कर एक रत्नावलि नाम को धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार से सभी नयवाद भी मिल कर अपने-अपने वक्तव्य के अनुरूप वस्तु दर्शन में योग्य स्थान प्राप्त करके सम्यक्दर्शन बन जाते हैं—यही अनेकांतवाद है।[27] नय और प्रमाण, दोनों ही ज्ञान की वृत्तियां हैं। अर्थात्—दोनों ज्ञान के ही पर्याय हैं। प्रमाण में वस्तु के समस्त धर्मों की विविक्षा होती है, किंतु नय में एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की विविक्षा नहीं होती। प्रमाण और नय, दोनों वस्तु के अनेक धर्मात्मक स्वभाव को प्रकट करते हैं, तथापि दोनों की प्रतिपादन पद्धति पृथक-पृथक है।[28] आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि—जैसे समुद्र में सब नदियां मिल जाती हैं, वैसे ही अनेकांत में सब दृष्टियां मिल जाती हैं, लेकिन उनमें अनेकांत नहीं दिखाई देता, जिस प्रकार नदियों में समुद्र दिखाई नहीं देता।[29]

आइंस्टाइन का सापेक्षवाद, भगवान बुद्ध का विभाज्यवाद अनेकांत पर ही खड़ा है। अनेकांतवाद इन दोनों का व्यापक व विकसित रूप है। सांख्य एक ही प्रकृति को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मान कर अनेकांत को स्वीकार करता है। पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो ने समस्त विश्ववर्ती पदार्थों को सत् और असत्—इन दो में समाविष्ट करके समन्वय की महत्ता बतलाते हुए जगत की विविधता सिद्ध की है। इस भूमिका पर ही आगे चल कर सगुण और निर्गुण के वाद-विवाद को, ज्ञान और भक्ति के झगड़े को सुलझाया गया। आचार में अहिंसा को और विचार में अनेकांत की प्रतिष्ठा कर भगवान महावीर ने अपनी दृष्टि को व्यापकता प्रदान की। विभिन्न धर्मों और दर्शनों में निहित सत्यों को स्वीकार करना और उनमें परस्पर समन्वय करना अनेकांत है।[30]

अनेकांतवाद की समन्वय विधि सापेक्षतावाद और यथार्थवाद की आधारशिला पर निर्मित हुई है। इस समन्वय विधि को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। जैसे दही-मंथन की क्रिया से मक्खन निकालने वाली ग्वालिन पहले अपने एक हाथ से मथनी की रस्सी के एक छोर को अपनी ओर खींचती है, फिर वह दूसरे हाथ की रस्सी के छोर को ढीला छोड़ देती है, किंतु उसे हाथ से सर्वथा छोड़ नहीं देती है। अगर वह एक छोर को खींचे और दूसरे को ढीला न छोड़े तो मक्खन नहीं निकल पाता। इसी प्रकार जब एक दृष्टिकोण को गौण करके, दूसरे दृष्टिकोण को प्रधान रूप से विकसित किया जाता है—तभी सत्य का अमृत हाथ लगता है। अतएव एकांत के पोखर से दूर रह कर अनेकांत के शीतल, स्वच्छ सरोवर में अवगाहन करना समुचित है।[31]

ब्रेडले की समन्वय विधि के अनुसार प्रत्येक निर्णय अंशतः सत्य होता है और अंशतः मिथ्या। पूर्ण सत्य किसी एक वाक्य या अनुभव में नहीं पाया जाता।[32] पूर्ण सत्य उसे कहा जाता है, जिसका विषय ब्रह्मांड है। पूर्ण सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए ब्रेडले ने जो वाक्य समष्टि की अपेक्षा का संकेत दिया है, वह तो अनेकांतवाद की कथन-शैली का ही एक रूप है। इसके निर्देशन के लिए अनेकांतवाद की कथन प्रणाली में सात अंधों का उदाहरण प्रसिद्ध है कि सात अंधे व्यक्ति हाथी के विभिन्न अंगों—सूंड, दांत, कान, पैर, पूंछ, पेट और पीठ को ही पूर्ण हाथी समझ कर एकांतिक निर्णय ले बैठे और आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे। किंतु, जब उन्हें यह ज्ञान हुआ कि उन सबके अपने-अपने निर्णय एकांशिक हैं, संपूर्ण हाथी की अभिव्यक्ति समग्र अंशों को मिला कर ही होती है, तो उनका झगड़ा समाप्त हो गया। इसी प्रकार अनेकांत विधि भी एकांतिक निर्णयों को एक सूत्र में आबद्ध कर वैचारिक स्तर पर मतैक्य को स्थापित करती है। परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले विचारों की अपेक्षा दृष्टि को रख कर यथार्थ स्वरूप को व्यक्त कर देती है। अनेकांतवाद के नियम सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं।[33]

अनेकांतवाद : वैज्ञानिक दृष्टि

वैज्ञानिक जगत ने भी इस बात को एक मत से स्वीकार किया है कि हम वस्तु के स्वरूप को एकांत दृष्टि से नहीं, अपितु अनेकांत दृष्टि से ही जान सकते हैं और विश्लेषण कर सकते हैं। विज्ञान की प्रयोगशाला में यह तथ्य सामने आया है कि वस्तु में अनेक धर्म और गुण भरे हुए हैं। अपने समय के प्रमुख वैज्ञानिक आइंस्टाइन आदि ने समस्त

विश्व में व्याप्त सापेक्षता के सिद्धांत की खोज द्वारा एक छोटे-से परमाणु तक में अनंत शक्ति और गुणों का होना सिद्ध किया है। वैज्ञानिकों द्वारा इस सापेक्ष स्थिति को समझने के लिए पाश्चात्य विचारक प्रो. एडिगटन ने अपने ग्रंथ—'नेचर ऑफ फिलोसोफी वर्ल्ड'—में लिखा है कि—'सापेक्ष स्थिति को समझने के लिए सबसे सहज और सरल उदाहरण किसी पदार्थ की दिशा को लिया जा सकता है।'[34] अनेकांतवाद का भी यह मत है कि किसी एक पक्ष की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसके प्रतिभासित, विरोधी पक्ष की सत्ता को भी स्वीकार किया जाए।

अनेकांतवाद : जीवन व्यवहार की दृष्टि

अनेकांत सिर्फ चिंतन और दर्शन के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह आचरण का भी माध्यम है। आचरण के मुख्य तीन सूत्र हैं—1. **नो अत्ताणं आसाएज्जा नो पर आसाएज्जा**[35]—न अपनी अवहेलना करो और न दूसरों की। 2. **सव्वे पाणा पिआउया, नाइ वाएज्जा कंचणं**—सबको अपना जीवन प्रिय है, किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो। 3. **अप्पणो य परं नालं कुतो अन्नाणुसासिउं**—जो अपने पर अनुशासन नहीं रख सकता, वह दूसरों पर अनुशासन कैसे कर सकता है?

उपरोक्त तीनों का सारांश यह है कि यदि व्यक्ति अभिमानवश दूसरों की अवहेलना या उपेक्षा करता है और दुराग्रह पर अड़ा रहता है, तो दूसरे भी उसकी उपेक्षा कर देते हैं। अपने जीवन के लिए दूसरों के प्राणों को हरण करता है, तो क्रूर हत्यारा मान कर दूसरे भी उससे दूर रहना पसंद करते हैं और लोक-मर्यादाओं का पालन नहीं करता है, तो दूसरे भी उसकी बात सुनने को तैयार नहीं होते हैं। अनेकांतवाद द्वारा भी आचार के लिए यही संकेत है कि सद्विचार, सहअस्तित्व और सत्प्रवृत्ति का सहयोग आवश्यक है। उनकी बातों में उतना ही सत्य समाया हुआ है, जितना अपने कथन में मानते हैं। अपनी तरह दूसरों को भी जीने का अधिकार है। यदि व्यक्ति अपने लिए ही जिए तो यह विश्व या तो श्मशान की तरह होगा या कमजोर को जीने का अधिकार नहीं रहेगा।[36]

इसलिए जीवन में इन तीन सूत्रों को उतारना आवश्यक है—1. जैसा तुम स्वयं चाहते हो, अपनी बात को सत्य मानते हो—वैसे दूसरों का भी सम्मान करो और उनकी बात के सत्यांश को भी समझने का प्रयत्न करो। 2. जिस प्रकार तुम्हें अपने प्राण, अपनी संपत्ति और अपने पुत्र, परिवार आदि प्यारे हैं, उसी प्रकार दूसरों के प्रति भी इसी प्रकार सोचो। उन्हें भी अपने प्राण, पुत्र, परिवार आदि प्रिय हैं। 3. जिस प्रकार तुम दूसरों पर अनुशासन करना चाहते हो, दूसरों को अपने विचारों के अनुकूल चलाना चाहते हो—उसी प्रकार स्वयं को भी अनुशासित बनाओ और स्वयं भी किसी के प्रतिकूल व्यवहार मत करो।

भगवान महावीर के इन तीन सूत्रों में अनेकांतवाद की जीवनस्पर्शी व्याख्या समाई है। अगर ये तीन सूत्र जीवन में अपनाते हैं तो आज के राजनीतिक तनाव, वर्ग-संघर्ष, सांप्रदायिक झगड़े और पारिवारिक कलह स्वयं शांत हो जाएंगे। मनुष्य मनुष्य का आदर सम्मान करना सीख जाएगा और जीवन में सुख-शांति, जीवन-शांति की लहर आ जाएगी।[37] अनेकांतवाद केवल तर्क का सिद्धांत नहीं अपितु शीतल अनुभव मूलक सिद्धांत है।

आज धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में असहिष्णुता, अशांति, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था का वातावरण दिखाई पड़ता है। ऐसे में विश्व बंधुत्व की कल्पना तो दूर, एक परिवार में भी सामंजस्य नहीं रह पा रहा है। संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। असंयुक्त परिवारों में भी द्वंद्व है। बच्चे बड़े होकर अपने माता-पिता का कहना नहीं मानते, संपत्ति के लिए अपने माता-पिता की हत्या तक कर रहे हैं। ईर्ष्या, द्वेष, भौतिकता, सांप्रदायिकता तथा रूढ़ियों का सर्वत्र साम्राज्य है। ऐसे वातावरण में यदि कोई सामंजस्य स्थापित कर सकता है तो वह है—अनेकांत का सिद्धांत। यदि अनेकांत है, तो अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य, अचौर्य आदि भी अवश्यंभावी होंगे, क्योंकि लोक-व्यवहार में दो बातें प्रमुख हैं—विचार और आचार। अनेकांत के द्वारा हम विचारों का सामंजस्य स्थापित करते हैं। जब विचारों में सामंजस्य होगा, आचार भी स्वभावतः अच्छा होगा। संसार में एकांतवाद (हमारा पक्ष ही पूर्णतः सही है, अन्य का नहीं) से असहिष्णुता, अन्याय, असद्भाव आदि का प्रसार होता है। ऐसे विचारों से युक्त व्यक्ति दूसरों की मान्यताओं व विचारों को नहीं सुनना चाहता। परिणामतः उनमें संघर्ष अवश्यंभावी हैं। यदि हम अनेकांत का दृष्टिकोण रखते हैं तो कभी भी अपने विचारों को बलात दूसरों पर नहीं थोपेंगे, अपितु दूसरों की मान्यताओं या दृष्टिकोणों को अपेक्षाभेद से स्वीकार करके समन्वय स्थापित करेंगे और परिणामस्वरूप विवादों एवं संघर्षों से मुक्ति पायेंगे। अतः अनेकांत का सिद्धांत समस्त

धर्मों में तथा सामाजिक व्यवस्थाओं में शांति-स्थापना का, विश्वबंधुत्व के प्रसार का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। ❖

संदर्भ

1. अनेकांत दर्शन, ले. मधुकर मुनि, प्रकाशक : मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन; पीपलिया बाजार, ब्यावर (1974), पृ.सं. 6
2. वही, पृ. सं. 8
3. जैन दर्शन : स्वरूप व विश्लेषण, ले. देवेंद्र मुनि शास्त्री, प्रकाशक : श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर (1975), पृ.सं. 252
4. वही, पृष्ठ सं. 53
5. वही, पृष्ठ सं. 234
6. अनेकांत दर्शन, ले. मधुकर मुनि, प्रकाशक : मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, पीपलिया बाजार, ब्यावर (1974) पृ.सं. 8
7. वही, पृ.सं. 9
8. वही, पृ.सं. 10
9. अनेकांत-हकृ (वैचारिक उदात्तता एवं सेवा मंदिर की गतिविधियों का वार्षिक बुलेटिन)। प्रकाशक : सेवा मंदिर, महावीर शिक्षण संस्थान, अजीत कालोनी, जोधपुर।
10. अनेकांत दर्शन, ले. मधुकर मुनि, प्रकाशक : मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, पीपलिया बाजार, ब्यावर, 1974, पृ.स. 12
11. वही, पृ.सं. 17-18
12. वही पृ.सं. 18
13. वही पृ. सं. 19
14. अनेकांतवाद का समीक्षात्मक अध्ययन—ले. डा. राजेंद्र लाल डोसी, प्रकाशक : डा. गयाचरण त्रिपाठी, चंद्रशेखर आजाद पार्क, इलाहाबाद (1982), पृ.सं. 7
15. वही पृ. सं. 8
16. वही पृ. सं. 9
17. वही पृ. सं. 10
18. वही पृ. सं. 11
19. वही, पृ. सं. 45
20. वही, पृ. सं. 46
21. वही, पृ. सं. 47
22. जैन दर्शन : स्वरूप व विश्लेषण, ले. देवेंद्र मुनि शास्त्री, प्रकाशक : श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर (1975), पृ.सं. 231
23. अनेकांतवाद का समीक्षात्मक अध्ययन, ले. डॉ. राजेंद्र लाल डोसी, प्रकाशक : डा. गयाचरण त्रिपाठी, चंद्रशेखर पार्क, इलाहाबाद (1982), पृ. सं. 52
24. वही, पृ. सं. 55
25. वही, पृ. सं. 57
26. जैन दर्शन : स्वरूप व विश्लेषण, ले. देवेंद्र मुनि शास्त्री, प्रकाशक : श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर (1975), पृ.सं. 248-249
27. अनेकांतवाद का समीक्षात्मक अध्ययन, ले. डा. राजेंद्र लाल डोसी, प्रकाशक : डा. गयाचरण त्रिपाठी, चंद्रशेखर पार्क, इलाहाबाद (1982), पृ.सं. 120
28. जैन दर्शन : स्वरूप व विश्लेषण, ले. देवेंद्र मुनि शास्त्री, प्रकाशक : श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर (1975), पृ.सं. 314
29. अनेकांतवाद का समीक्षात्मक अध्ययन, ले. डा. राजेंद्र लाल डोसी, प्रकाशक : डा. गयाचरण त्रिपाठी, चंद्रशेखर पार्क, इलाहाबाद (1982), पृ.सं. 130
30. वही, पृ. सं. 47
31. अनेकांत दर्शन, ले. मधुकर मुनि, प्रकाशक : मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, पीपलिया बाजार, ब्यावर, (1974) पृ.सं. 11
32. वही, पृ.सं. 27
33. वही, पृ. सं. 28-29
34. अनेकांतवाद का समीक्षात्मक अध्ययन, ले. डा. राजेंद्र लाल डोसी, प्रकाशक : डा. गयाचरण त्रिपाठी, चंद्रशेखर पार्क, इलाहाबाद (1982), पृ.सं. 29
35. वही, पृ. सं. 30
36. वही, पृ. सं. 31
37. वही पृ. सं. 32

❖❖

धर्म, समाज और बुद्धिजीवी बेचैनी

पृष्ठ 17 का शेष

फसादों का सिलसिला है, जो बंद होने का नाम नहीं ले रहा है। वह एकता जो अंग्रेजों के विरोध में खड़ी हुई थी, अब एक-दूसरे को बर्बाद करने पर तुली नजर आती है। बिना इस हकीकत को समझे हुए कि जो दरिया-ए-सिंध एक बार पार कर चुका, वह हिंदुस्तानी बन बैठा और उसी अनेकता के ताने-बानों से बना हमारा यह समाज है।

विश्व स्तर पर अपनी तरह से बुद्धिजीवी वर्ग इस बेचैनी को महसूस कर रहा है कि धर्म के नाम पर बंटते इंसानों को कैसे समझाया जाए कि वह बंटवारा सियासी है। अतीत में हुए धर्मयुद्धों से वह उपलब्धियां हमें नहीं मिलीं, जो हमने मानव-लाभ को लक्ष्य में रख कर प्राप्त की हैं।

❖

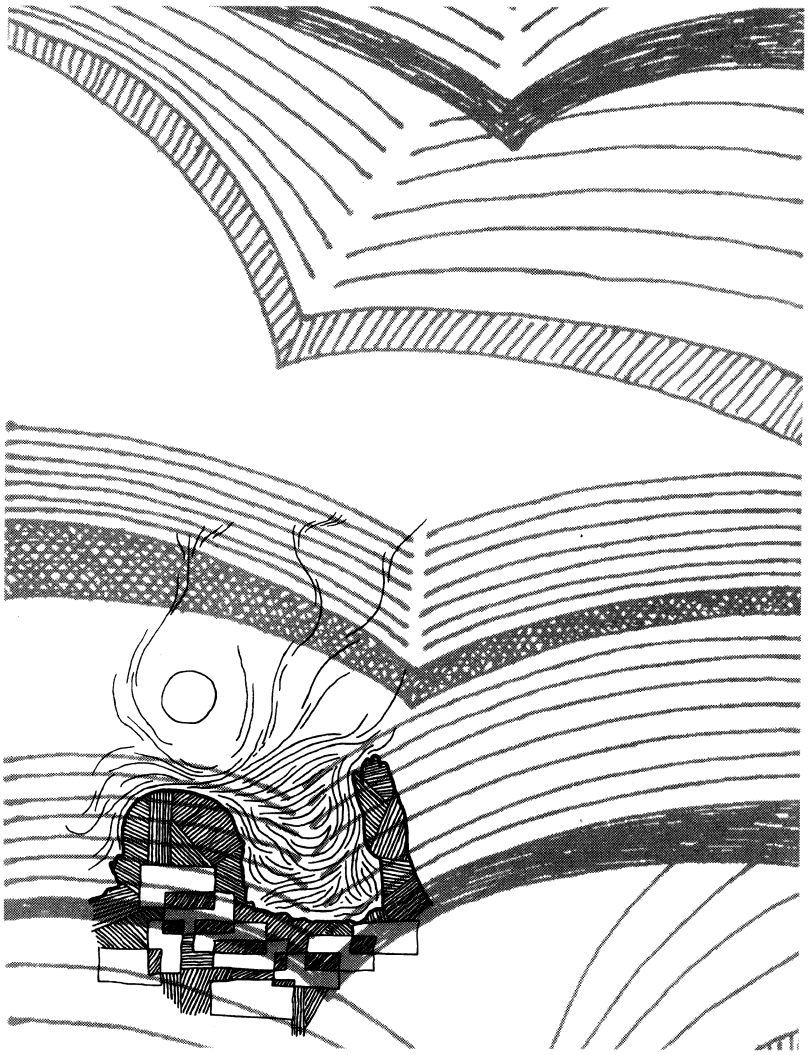

अनुभूति

मंदिर तुम्हारा है
देवता हैं किसके?
प्रणति तुम्हारी है
फूल झरे किसके?

नहीं, नहीं, मैं झरा, मैं झुका,
मैं ही तो मंदिर हूं,
ओ देवता! तुम्हारा।

वहां, भीतर, पीठिका पर टिके
प्रसाद से भरे तुम्हारे हाथ
और मैं यहां देहरी के बाहर ही
सारा रीत गया।

— अज्ञेय

जं छेयं तं समायरे

❑

युवाचार्यश्री महाश्रमण

आदमी बुराइयों को देखे और अच्छाइयों को भी देखे। दोनों को जानने-समझने के बाद वही ग्रहण करे जो उपादेय है। जैसा कि दसवेआलियं सूत्र में कहा गया है—जं छेयं तं समायरे—जो श्रेयस्कर है, कल्याणकारी है, उसी का आचरण करें। जो गलत है—उसका आचरण न करें। शास्त्रकार ने सर्वगुण संपन्नता से अपुनरावृत्ति की प्राप्ति बतलाई है और उसके साथ शारीरिक व मानसिक दुःखों से मुक्त होने की बात भी कही है। आदमी के जीवन में गुण-संपन्नता है तो अनेक समस्याओं से, अनेक कठिनाइयों से छुटकारा मिल सकता है। एक व्यक्ति मधुरभाषी है, सबके साथ विनम्रता और मृदुताभरा व्यवहार करता है, तो लोग भी उसे सम्मान देते हैं, उसके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं। विनम्रता और शालीनता ऐसे गुण हैं, जो असम्मान या अपमान की स्थिति आने ही नहीं देते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार संसारी आत्मा संसार में भ्रमण करती रहती है। वह जन्म-मृत्यु के चक्र में ही संचरण करती रहती है और जब उसका आवागमन अवरुद्ध हो जाता है, तब वह हमेशा-हमेशा के लिए मुक्त हो जाती है। आत्मा की इस स्थिति का निर्माण 'सर्वगुण संपन्नता' की अवस्था में ही होता है। सर्वगुण संपन्नता पर ही आर्हत वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में एक प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। प्रश्न किया गया—**सव्वगुण-संपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**—भंते! सर्वगुण संपन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है? उत्तर दिया गया—**सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावत्तिं जणयइ। अपुणरावत्तिं पतए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ।**—सर्वगुण संपन्नता से वह अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता। सर्वगुण संपन्नता का सीधा-सा अर्थ है—समस्त गुणों से संपन्न होना और अपुनरावृत्ति से तात्पर्य है—उस स्थान को प्राप्त कर लेना, जहां पहुंचने के बाद वापिस आना नहीं पड़ता। वह स्थान है—मोक्ष।

सर्वगुण संपन्नता के चार आयाम हैं—अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र। इन चारों की प्राप्ति ही सर्वगुण संपन्नता है।

पहला आयाम है—**अनंत ज्ञान**। जब अज्ञान का पूर्णतया क्षय हो जाता है, तब संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश होता है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में इसे केवलज्ञान कहा जाता है। केवलज्ञान होने के बाद कोई भी ज्ञान अवशेष नहीं रहता। जब अनंत ज्ञान प्रकट हो जाता है तब सारे आवरण दूर हो जाते हैं। अनंतज्ञान की यह प्राप्ति सर्वगुण संपन्नता का पहला आयाम है।

दूसरा आयाम है—**अनंत दर्शन**। दर्शन शब्द ज्ञान के साथ ही जुड़ा हुआ है। दर्शन शब्द के अनेक अर्थ हैं। दर्शन का पहला अर्थ है—देखना। दर्शन शब्द का दूसरा अर्थ है—सिद्धांत। जैसे जैनदर्शन, बौद्धदर्शन आदि। दर्शन का तीसरा अर्थ है—सामान्य अवबोध। जैनदर्शन का यह एक महत्त्वपूर्ण और पारिभाषिक शब्द है। विशेष ज्ञान पर्यायों का बोध होना ज्ञान कहलाता है और सामान्य अथवा अनाकार रूप में जो अवबोधित होता है—वह दर्शन कहलाता है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति प्रवचन-पांडाल में आया और उसने देखा कि वहां बहुत सारे लोग बैठे हैं। इस बात को जानना दर्शन हो गया और फिर यह विश्लेषण करना कि वहां पूज्य आचार्यप्रवर कुछ फरमा रहे हैं, इतने साधु-साध्वियां हैं, इतने श्रावक-श्राविकाएं हैं—यह विवेचन करना ज्ञान हो गया। अभेद रूप में जो अवबोध है—वह दर्शन है, जबकि भेद रूप में जो विश्लेषण युक्त अवबोध है—वह ज्ञान है।

तीसरा आयाम है—**क्षायिक सम्यक्त्व**। अनंतानुबंधीकषाय चतुष्क, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय के क्षीण होने से क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह सम्यक्त्व आने के बाद कभी वापिस नहीं जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद यदि आयुष्य का बंध हो तो वह निश्चित ही मोक्ष जाता है। कदाचित क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पहले अगले भव का आयुष्य निर्धारित हो चुका हो तो वह तीन भव कर सकता है। अपुनरावृत्ति की स्थिति को प्राप्त करने के लिए क्षायिक सम्यक्त्व भी एक आयाम है।

चौथा आयाम है—**यथाख्यात चारित्र**। यह चारित्र प्राप्त होने के बाद, वापिस कभी जाता नहीं है। इसे क्षायिक चारित्र भी कहा जाता है। यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति के बाद चारित्र की दृष्टि से कुछ भी अवशेष नहीं रहता, पूर्णरूप से चारित्र उपलब्ध हो जाता है।

अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र की उपलब्धि का मतलब है—सर्वगुण संपन्नता की प्राप्ति होना। सर्वगुण संपन्नता का पहला परिणाम है—अपुनरावृत्ति (मोक्ष) की प्राप्ति। जिस मनुष्य को केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह निश्चित रूप से अपुनरावृत्ति को प्राप्त कर लेता है। उसी जीवन के बाद अथवा उसी जीवन की मृत्यु के बाद, उसे अनिवार्य रूप से मोक्ष प्राप्त होता है। यह केवलज्ञान एकमात्र मनुष्य को ही प्राप्त होता है। मनुष्य के सिवाय अन्य किसी भी प्राणी को केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसीलिए दुनिया में कोई सर्वश्रेष्ठ प्राणी है तो—वह मनुष्य ही है।

यह भी एक तथ्य है कि जहां मनुष्य केवलज्ञान प्राप्त करने की अर्हता रखता है, वहीं वह भयंकर पाप भी कर सकता है। भगवती सूत्र के सातवें शतक में महाशिलाकण्टक संग्राम और रथमुसल संग्राम का उल्लेख मिलता है। महाशिलाकण्टक संग्राम में चौरासी लाख मनुष्य मारे गए और रथमुसल संग्राम में छियानवें लाख मनुष्य मारे गए। हालांकि ये संग्राम वज्री (इंद्र) विदेहपुत्र (कूणिक) ने नौ मल्ल और नौ लिच्छवी के साथ किया था। एक आदमी बम विस्फोट करता है, अथवा हिंसा का कोई ऐसा प्रयोग करता है, जिससे एक साथ अनेक मनुष्यों का संहार हो जाता है। विनाश की ऐसी लीला केवल आदमी ही दिखा सकता है, पशु के वश में यह बात नहीं होती। इसीलिए इस दृश्य-दुनिया में यदि सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य है, तो अधम प्राणियों में भी मनुष्य का नाम सबसे ऊपर होगा। इस तरह सर्वगुण संपन्नता भी आदमी प्राप्त कर सकता है और अधम संपन्नता भी मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। अतः अपेक्षा है कि मनुष्य अपने जीवन में गुणों का विकास करे।

सर्वगुण संपन्नता अनेक जन्मों की साधना से सिद्ध हो सकती है। एक ही जन्म में साधना करने से सर्वगुण संपन्नता आ जाए—यह कहना तो कठिन है, किंतु मनुष्य होने के नाते वह यह लक्ष्य बनाए कि मुझे 'सर्वगुण संपन्न' बनना है। यदि आदमी अपने जीवन के कमजोर पक्ष को छोड़ता जाए और गुणात्मक पक्ष की दिशा में मजबूती के साथ आगे कदम बढ़ाता जाए—तो ऐसा होना संभव हो सकता है। किसी व्यक्ति को मूर्ति का निर्माण करना है, पत्थर उसके पास है, तब जो कलाकार या मूर्तिकार होता है—वह उस पत्थर में से अनावश्यक पत्थर को निकालता जाता है और निकालते-निकालते मूर्ति का निर्माण कर लेता है। इसी प्रकार आदमी के जीवन में जो विजातीय दुर्गुण हैं, उनको निकालने का वह प्रयास करे और सजातीय गुणों को बढ़ाने का लक्ष्य रहे—तो गुणात्मक विकास हो सकता है।

यह सर्वमान्य है कि किसी आदमी में अवगुण भी हो सकते हैं और सद्गुण भी हो सकते हैं। उसके दुर्गुणों को अस्वीकार करते हुए—यदि सद्गुणों को स्वीकार करें—तो भी गुणों का विकास हो सकता है। एक प्रसंग से इसे समझा

शेष पृष्ठ 58 पर

आचार्यश्री मघवागणी
वृत्ति और प्रवृत्ति में अध्यात्म के दर्शन

❑

मुनि मदनकुमार

मघवागणी का बाह्य व्यक्तित्व जहां इतना उत्कृष्ट था, वहीं आंतरिक व्यक्तित्व तो उससे भी कहीं शतगुणा अधिक महनीय था। उनके परिणामों की श्रेणी बड़ी उज्ज्वल रहा करती थी। उनके चारित्रिक पर्यवों की निर्मलता बेजोड़ थी। वे एक उत्कृष्ट वृत्ति वाले साधु थे। उनका हृदय बालक की तरह पवित्र और सरल था। संसार के बहुत से संबंधों तथा व्यवहारों से वे पूर्णतः अपरिचित ही थे। पापभीरु तो वे इतने थे कि कभी अपेक्षित मार्ग न मिलने पर यदि पानी या हरियाली पर पैर रखना पड़ता, तो कांप उठते थे। उस समय उनके शरीर में प्रस्वेद आ जाया करता था। अचित जल का उपयोग भी वे बड़ी सावधानी से करते थे। शरीर की विभूषावृत्ति से बचने का ध्यान उन्हें सदा बना रहता। इस तरह उनकी हर वृत्ति और प्रवृत्ति में अध्यात्म के दर्शन होते थे।

आत्मोदय के महान साधक और सहज योगी आचार्यश्री मघवागणी का जन्म राजस्थान के बीदासर में विक्रम संवत 1897, चैत्र शुक्ला एकादशी, रविवार को हुआ। पिता पूरणमलजी और माता बन्नाजी के गृहांगन में वे कुलदीपक बन कर आए। वे अतुलनीय सौंदर्य और प्रखर मनीषा के धनी थे। छोटी उम्र में ही सिर से पिता का साया उठ गया, पर इस आघातपूर्ण घटना ने पूरे परिवार में धार्मिकता का उत्प्रेरक माहौल बना दिया।

विक्रम संवत 1908 में श्रीमद्जयाचार्यजी का बीदासर चतुर्मास उनके लिए वरदान साबित हुआ। इस चतुर्मास में उनमें आध्यात्मिक संस्कारों का अभूतपूर्व संचार हुआ। इसी वर्ष मार्गशीष कृष्णा द्वादशी को लाडनूं में जयाचार्यश्री (तब वे युवाचार्य थे) ने ग्यारह वर्ष के किशोर मघवा को दीक्षा प्रदान कर दी। तेरापंथ के तृतीय आचार्य आचार्यश्री ऋषिराय उस समय मेवाड़ प्रदेश के रावलिया ग्राम में विराज रहे थे। दीक्षा के दो माह बाद ही आचार्यश्री रायचंदजी (ऋषिराय) का स्वर्गवास हो जाने से मुनि मघवा का प्रत्यक्ष मिलन उनसे नहीं हो सका, पर दीक्षा से पूर्व तथा दीक्षा के पश्चात् आचार्यश्री ऋषिराय ने जो मंगलकामना उनके लिए की थी, उसमें मुनि मघवा के महान व्यक्तित्व की अवगति मिलती है। लगभग तीन माह बाद फाल्गुन कृष्णा छह को जयाचार्यश्री ने बीदासर में मघवा की माता और बहिन को भी दीक्षा प्रदान कर दी। इस तरह पूरा परिवार ही तेरापंथ शासन में दीक्षित हो गया।

अद्भुत व्यक्तित्व

मुनि मघवा की पापभीरुता, आत्मस्थ वृत्ति और वैराग्य चेतना बेजोड़ थी। उनकी प्रकृति अत्यंत विनम्र, शांत, सरल और सौजन्यशील थी। उनका अंत:करण शीतल और आवेशमुक्त था। क्षमा, धृति और उपशम भाव का उनके जीवन में प्रारंभ से ही अनूठा विकास था। उन्हें उत्तेजित या असंतुलन कर पाना सहज बात नहीं थी। निंदा और प्रशंसा में सम रहने वाले वे अद्भुत योगी थे। वे हर परिस्थिति में संतुलित और प्रसन्न रहने के अभ्यासी थे। वे निस्पृहता के शिखर पर आरूढ़ महामानव थे। अपनी प्रशंसा सुनना उन्हें पसंद नहीं था। निर्लिप्तता और निरभिमानता का उनके जीवन में बेजोड़ संगम था। वे विद्याप्रेमी और जागरूक व्यक्तित्व के धनी थे। सेवा, सहयोग और श्रम के संस्कार उनमें बचपन से ही विकासोन्मुख थे। जयाचार्यश्री उन्हें हर नवीन नियम और मर्यादा के लिए प्रथम प्रयोक्ता के रूप में देखते थे। वे इन सबकी सचमुच प्रयोगभूमि थे। एक बार जयाचार्यश्री उनकी तितिक्षा की परीक्षा लेना चाहते थे। इसलिए उन्होंने एक साधु को निर्देश दिया कि वह अध्ययनरत मुनि मघवा की पीठ पर थोड़ी-सी धूल डाल दे। वह एक विचित्र आदेश था। उस साधु ने बहुत ही अमनस्क भाव से उस आदेश को पूरा किया। जयाचार्यश्री इसकी प्रतिक्रिया देखना चाहते थे। जयाचार्यश्री ने देखा कि मुनि मघवा पूर्ण शांत-भाव से अपने शरीर को सावधानीपूर्वक झाड़ कर पुनः अपने अध्ययन में लीन हो गए। उनकी वाणी और व्यवहार में कहीं आवेश नहीं आया। जयाचार्यश्री के पूछने पर उन्होंने इसे सहज बताते हुए टाल दिया। उनका यही उत्तर था कि आंधी में कितनी धूल गिरती है, जैसे उसे झाड़ते हैं, वैसे इसे भी झाड़ लिया।

आशीर्वाद आचार्य का

मुनि मघवा एक महान गुरु के महान शिष्य थे। वे अनेक विशेषताओं के पुंज थे। मुनि मघवा जैसे योग्य एवं सर्वात्मना समर्पित शिष्य का सुयोग महामना जयाचार्यश्री के सौभाग्य का ही सूचक माना जा सकता है। गुरु-शिष्य की इस अद्भुत जोड़ी ने सबको मंत्रमुग्ध कर दिया था। गुरु का वात्सल्य भाव और शिष्य का समर्पण भाव, दोनों ही उत्कर्ष प्राप्त थे। जयाचार्यश्री कहते थे कि मघवा अत्यंत विनयी है। किसी को विनय की शिक्षा लेनी हो तो इससे लेनी चाहिए। 14 वर्ष की उम्र में जयाचार्यश्री ने उन्हें 'सरपंच' नियुक्त कर दिया था। वे साधु-समाज की स्खलनाओं के प्रायश्चित्त का विधान करने में समर्थ बन गए थे। 22 वर्ष की वय में मुनि मघवा को राजलदेसर में जयाचार्यश्री ने चार 'बख्शीश' प्रदान कर तेरापंथ धर्मसंघ में विशेष सम्मान दिया। 23 वर्ष की उम्र में चूरू चतुर्मास के दौरान जयाचार्यश्री ने उनको पट्ट पर बैठने की आज्ञा प्रदान कर दी और दो माह पश्चात् ही उन्हें युवाचार्य पद पर आरूढ़ कर दिया।

जयाचार्यश्री के परम सहयोगी बन कर वे अट्ठारह वर्ष तक युवाचार्य पद पर आसीन रहे। उन्होंने संघ व्यवस्था में जयाचार्यश्री को प्रायः चिंतामुक्त कर दिया था। उनकी इस दायित्वपूर्ण चेतना ने जयाचार्यश्री को साहित्य सृजन, स्वाध्याय तथा ध्यान-साधना में नियोजित रहने का पूरा अवसर दिया। इस निश्चिंतता से जयाचार्यश्री को अत्यधिक आत्मलीन रहने का अपूर्व अवसर मिल गया। कहा जा सकता है कि यह कालखंड महावीर और गौतम की जोड़ी का प्रतिरूप प्रस्तुत करने वाला अनूठा काल सिद्ध हुआ। सुविनीत शिष्य की विरल विशेषताओं का अंकन कर जयाचार्यश्री ने उन्हें 'पंडित' और 'पुण्यशाली' संबोधन भी प्रदान किए। जयाचार्यश्री के निर्वाण के पश्चात् युवाचार्यश्री मघवा विक्रम संवत 1938, भाद्रपद शुक्ला द्वितीया के दिन जयपुर में आचार्य पद पर आसीन हुए। उस समय वे 41 वर्ष के थे।

आशीर्वाद ऋषिराय का

मघवागणी की दीक्षा के समय तृतीय आचार्य आचार्यश्री ऋषिराय महाराज मेवाड़ में विचरण करते हुए रावलिया में विराज रहे थे। युवाचार्यश्री जीतमलजी (जयाचार्य) द्वारा किशोर मघवा की दीक्षा के समाचार जब वहां पहुंचे, तो अचानक ही आचार्यश्री ऋषिराय को एक-के-बाद एक तीन छींकें आईं। साधारणतया वे शकुन या मुहूर्त आदि पर बहुत अधिक विश्वास नहीं किया करते थे, पर उस दिन न जाने उनको उन छींकों में क्यों कोई विशिष्ट या कोई अज्ञात संदेश प्रतीत हुआ। उन्होंने प्रथम छींक पर तो कुछ नहीं कहा, पर तत्काल ही जब दूसरी छींक आई तो बोले—'लगता है, यह साधु प्रभावशाली एवं अग्रणी बनने योग्य होगा।'—यह कहते ही उन्हें जब तीसरी छींक और आई तो उन्होंने फिर फरमाया—'यह 'जीतमल' का भार संभाल ले तो आश्चर्य नहीं।'—आचार्यश्री ऋषिराय के वे वचन मघवागणी के विषय में एक सुनिश्चित भविष्यवाणी के रूप में सिद्ध हुए।

अप्रतिम चेतना के धनी

निर्मलचेता मघवागणी प्रारंभ से ही उदितोदित थे। उनका व्यक्तित्व एक विकासशील साधु का व्यक्तित्व था।

किशोर अवस्था में दीक्षित होने पर भी उनमें बाल-सुलभ चपलता के स्थान पर गंभीरता ही अधिक पाई जाती थी। गौरवर्ण, भव्य आकृति, देदीप्यमान आभामंडल, आंखों को निर्निमेष अपने पर थमा लेने वाला लावण्य और उन सबसे भी अधिक आकर्षक थी उनकी निर्मल-शांत मुद्रा। उनका यह बाह्य व्यक्तित्व देखने वालों को मुग्ध किए बिना नहीं रहता था। अष्टमाचार्य कालूणी—जो कि मघवागणी के पास ही दीक्षित हुए थे—अपने संस्मरणों में अनेक बार फरमाया करते कि उन्होंने मघवागणी जैसी सुंदर आकृति वाला व्यक्ति अपने जीवन-काल में कभी नहीं देखा।

मघवागणी का बाह्य व्यक्तित्व जहां इतना उत्कृष्ट था, वहीं आंतरिक व्यक्तित्व तो उससे भी कहीं शतगुणा अधिक महनीय था। उनके परिणामों की श्रेणी बड़ी उज्ज्वल रहा करती थी। उनके चारित्रिक पर्यवों की निर्मलता बेजोड़ थी। वे एक उत्कृष्ट वृत्ति वाले साधु थे। उनका हृदय बालक की तरह पवित्र और सरल था। संसार के बहुत से संबंधों तथा व्यवहारों से वे पूर्णतः अपरिचित ही थे। पापभीरु तो वे इतने थे कि कभी अपेक्षित मार्ग न मिलने पर यदि पानी या हरियाली पर पैर रखना पड़ता, तो कांप उठते थे। उस समय उनके शरीर में प्रस्वेद आ जाया करता था। अचित जल का उपयोग भी वे बड़ी सावधानी से करते थे। शरीर की विभूषावृत्ति से बचने का ध्यान उन्हें सदा बना रहता। इस तरह उनकी हर वृत्ति और प्रवृत्ति में अध्यात्म के दर्शन होते थे। वे बाहर और भीतर का अद्भुत सामंजस्य थे। उनकी महनीयता को उजागर करते हुए शासनगौरव मुनि बुद्धमल्लजी ने लिखा—'वस्तुतः मघवागणी शारीरिक सौंदर्य की दृष्टि से तो कोई देव-पुरुष ही थे, आत्मिक सौंदर्य भी उनका विलक्षण था। उन जैसे निर्लिप्त व्यक्तित्व की इस दुःषम कलिकाल में कल्पना कर पाना भी दुरूह-सा लगता है। जागतिक राग-द्वेष तथा मोह-माया आदि से वे बहुत दूर थे। वस्तुतः कलि-कालुष्य से अस्पृष्ट उनके अनुपम व्यक्तित्व को वीतराग कल्प कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।'

अजातशत्रु महापुरुष

मघवागणी की प्रकृति अत्यंत शांत, सरल तथा भद्र थी। तेज होकर किसी को कुछ कहना उनकी प्रकृति से बाहर की बात थी। हर स्थिति में अत्यंत शीतलता ही उनकी विशेषता थी। आचार्य पद पर आरूढ़ होने के बाद भी उनमें यह विशेषता जस-की-तस बनी रही। शासक होने के नाते उन्हें किसी को आवश्यकतावश उपालंभ देना भी पड़ता, तो वे उसे यथासंभव कोमलता से ही दिया करते थे। कभी-कभी तो उपालंभ देते समय वे यहां तक कह दिया करते कि—'तुम्हें 'ओलंभा' देता हूं तो स्वयं मुझे कष्ट होता है। यदि तुम गलती न करते तो मुझे क्यों कुछ कहना पड़ता?'—अपनी इस शांतवृत्ति के कारण ही वे सर्व-प्रिय बन गए थे। वस्तुतः वे अजातशत्रु थे। इस विषय में स्वयं जयाचार्यश्री भी उनके सौभाग्य की प्रशंसा किया करते थे। वे अनेक बार फरमाया करते—'मघजी बड़े पुण्यवान हैं। जितने भी रगड़े-झगड़े होने थे, वे प्रायः मेरे ही समय में होकर संपन्न हो गए। मघजी के लिए अब कोई झंझट शेष नहीं रहा है।'—जयाचार्यश्री भी उनकी गुण-गरिमा और पुण्यवत्ता से प्रभावित थे। आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—'पुण्यशाली होना एक बात है, पर गुरु के मुखारविंद से ऐसे शब्द सुनना सौभाग्य की पराकाष्ठा मानी जा सकती है।'—मघवागणी के विराट व्यक्तित्व को शब्दों में गुंफित करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने 'तेरापंथ प्रबोध' में अत्यंत मार्मिक अभिव्यक्ति दी है—

मघजी पुण्यवान है, म्हारै पंडित है, जय शब्द कह्या,
अट्ठारै ग्यारै बरसां लग युवाचार्य आचार्य रह्या,
हो संतां! निर्मल निर्माई निश्छल निरहंकार हो।।
भगिनी भाई दोनूं पाई कला सत्य-संधान की,
आत्म-विजेता नव नचिकेता वीतराग री बानगी,
हो संतां! जुग रा अजात शत्रु मघवा जगतार हो।।

श्रुतःकेवली महापुरुष

मघवागणी जैन आगमों के धुरंधर विद्वान थे। विद्यार्थी काल में ही उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, प्रथम आचारांग और वृहत्कल्प आदि आगम सूत्र समग्र रूप से कंठस्थ कर लिए थे। अवशिष्ट आगमों का उन्होंने अनेक बार पारायण किया था। जैनागमों की संस्कृत-टीकाओं का भी उन्होंने गंभीरतापूर्वक मनन किया था। इनके अतिरिक्त रामचरित्र, नेमिनाथ-चरित्र, जंबूकुमार, शालिभद्र, प्रदेशी, अमर कुंवर-सुरसंदरी आदि अनेक व्याख्यान ग्रंथ भी उनके कंठस्थ थे। इस तरह वे विशाल श्रुत-संपदा के धनी थे। उन्हें श्रुत केवली महापुरुष कहा जा सकता है।

आचार्यश्री मघवा संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। जयाचार्यश्री के सान्निध्य में कोई संस्कृत भाषी पंडित आता, किसी संस्कृत श्लोक या आगम की संस्कृत टीका का अर्थ करने का प्रसंग उपस्थित होता—तो वे कहते—'मघजी को बुलाओ। हमारे संघ में मघजी पंडित हैं।' वास्तव में मघवागणी का संस्कृत भाषा का अध्ययन बहुत ठोस था।

जयाचार्यश्री की तरह मघवागणी भी वाग्मी और सिद्ध-पुरुष थे। पूज्य जयाचार्यश्री ने वि.सं. 1931 का चतुर्मास सुजानगढ़ में किया। वहां उन्होंने प्रातःकालीन प्रवचन के लिए युवाचार्यश्री मघवा को आदेश दिया। प्रवचन प्रारंभ करने से पूर्व उन्होंने श्रोताओं से पूछा—'आप लोग कौनसा सूत्र सुनना चाहते हैं?' श्रावकों ने बद्धांजली होकर निवेदन किया—'वैसे तो आपकी जो इच्छा हो, वही सुना दीजिए, पर आपके मुख से तो कोई नया सूत्र ही सुनना चाहेंगे।'—युवाचार्यश्री मघवा ने तब भगवती, पन्नवणा, आचारागं आदि कई सूत्रों के नाम लेकर पूछा, परंतु श्रावकों ने हर बार यही कहा कि—यह तो सुना हुआ है। उस समय पूज्य जयाचार्यश्री निकट ही विराजमान थे। वे सारी बात सुन रहे थे। उन्होंने मुस्कराते हुए वहीं से श्रावकों को फरमाया—'तुम लोगों ने तो सारे ही सूत्र सुन रखे होंगे, पर इस बार मघजी से उत्तराध्ययन ही सुन लो।' जयाचार्यश्री के श्रीमुख से जिस सूत्र का नाम सामने आया, श्रद्धालुजनों के लिए वह एक प्रकार से अनुल्लंघनीय निर्देश ही हो गया। फलतः युवाचार्यश्री मघवा ने प्रातः व्याख्यान में 'उत्तराध्ययन' का वाचन प्रारंभ किया।

उनका व्याख्यान-कौशल अनुपम था। श्रावक वर्ग उनकी प्रतिपादन शैली से मुग्ध होकर कहने लगे कि उत्तराध्ययन तो अनेक बार सुना है, परंतु ऐसा मनोमुग्धकारी विवेचन पहले कभी नहीं सुना। यदि परमपावन जयाचार्यश्री निर्देश नहीं देते तो हम सब इससे वंचित ही रह जाते। इस घटना प्रसंग से उनकी ज्ञान-गरिमा का सहज ही बोध हो जाता है।

अखंड विश्वासपात्र

आचार्यश्री मघवागणी वीतराग की उपमा को सार्थक करने वाले परम पूज्य आचार्य थे। विकार-भावना मानो उन्हें कभी छू तक नहीं पाई थी। उनकी चारित्रिक निर्मलता को सारे संघ का अखंड विश्वास प्राप्त था। यहां तक कि संघ-विरोधी व्यक्ति भी उनका पूर्ण विश्वास किया करते थे। उनकी चारित्रिक निर्मलता-उच्चतम स्तर पर थी।

विभूतिद्वय जन्मदाता

पूज्यश्री मघवागणी व्यक्ति निर्माता भी थे। बारह वर्ष के अपने आचार्य काल में उन्होंने 36 साधु और 83 साध्वियों को संयम-रत्न प्रदान किया। उन्होंने शिष्य-निर्माण के साथ संस्कार-निर्माण का भी महनीय कार्य किया। तेरापंथ शासन को मंत्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी और अष्टमाचार्य पूज्यश्री कालूगणी के रूप में उनकी अद्भुत देन कही जा सकती है। वे इस विभूतिद्वय के जन्मदाता हैं। मुनिश्री मगनलालजी की दीक्षा पूज्यश्री मघवागणी के कर-कमलों से वि.सं. 1943, मिगसर शुक्ला चतुर्दशी को गोगुंदा में हुई। उन्होंने आचार्यश्री मघवागणी की सन्निधि में छः वर्ष बिताए और अपना विकास किया। इस अवधि में अनेक सूत्र कंठस्थ किए, आगमों और अन्य ग्रंथों का अध्ययन कर अपनी अर्हता का विकास किया। लिपि-कला और व्याख्यान-कला में कौशल अर्जित किया। आचार्यश्री मघवागणी के शासनकाल में उन्होंने जो धर्मोपदेश (प्राग् प्रवचन) देना प्रारंभ किया था, वह आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल तक चलता रहा। अपनी इस अवधि में वे सभी आचार्यों के कृपापात्र रहे। वि.सं. 1949 में आचार्यश्री मघवागणी ने जब मुनिश्री माणकलालजी को युवाचार्य पद प्रदान किया, तब उन्हें फरमाया था कि संघ की किसी बात पर परामर्श लेने की तुम्हें आवश्यकता लगे तो 'मगनजी' से ले सकते हो। पूज्यश्री मघवागणी के युग में यद्यपि वे एक युवा साधु ही थे, फिर भी संघ के आंतरिक कार्यों में उनका चिंतन और परामर्श निरंतर चलने लगा था। इस अपूर्व सेवा के कारण वे तेरापंथ धर्मसंघ में 'मंत्री' पद पर प्रतिष्ठित हुए। उन्हें पांच आचार्यों की उपासना का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आचार्यश्री माणकगणी के आकस्मिक निधन के समय संघ की अंतरिम व्यवस्था तथा आचार्यश्री तुलसीगणी के पदाभिषेक के समय उनकी लघुवय पर एक प्रवर सहयोगी का दायित्व उन्होंने अत्यंत कुशलतापूर्वक निभाया था।

अष्टमाचार्य पूज्यश्री कालूगणी की दीक्षा पूज्यश्री मघवागणी के करकमलों से ही वि.सं. 1944, आश्विन शुक्ला तृतीया को बीदासर में हुई। दीक्षित होने के बाद बालमुनि कालू स्वयं मघवागणी के मार्ग-दर्शन में साधना करने लगे। वे अत्यंत सजग साधु बने। उन्होंने मघवागणी को ही अपना आदर्श बनाया और स्वयं को उसी रूप में ढालने का प्रयास किया। अलबत्ता आचार्यश्री मघवागणी का पावन सान्निध्य उन्हें मात्र पांच वर्ष के लिए ही प्राप्त हुआ।

वे प्रारंभ से ही स्थिर योगी, अप्रमत्त साधक और अभीक्षण ज्ञानयोगी थे। अध्यवसाय और सौभाग्य का मणिकांचन योग उनके जीवन में प्रकट हुआ। मघवागणी के शासनकाल में बीजरूप में उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, उसे

शेष पृष्ठ 42 पर

मां

❑

कुंदनिका कापड़िया

आखिर वह महान पल आया—मृत्यु और मुक्ति का। सभी लड़के, लड़कों की पत्नियां, उनके बालक, सब आ गए थे—अंतिम दर्शन के लिए, विदा के लिए। एक क्षण को आनंदी को लगा कि जीवन की अपेक्षा मृत्यु की महिमा अधिक होगी। अमेरिका में रहते हुए दोनों लड़के पिछले सात वर्षों से आए नहीं थे, आ नहीं सके थे। लेकिन, मृत्यु की घड़ी का मान उन्होंने रख लिया था।

सबकुछ हो गया। पति की बीमारी ने अनुमान से बहुत अधिक जीवन-बल उसमें से छीन लिया था। दोनों बड़े लड़के परिवार के साथ वापस विदेश चले गए। मां से साथ चलने का बहुत आग्रह किया, लेकिन उसने मना कर दिया। छोटा लड़का मां के पास रुका रहा। उसने मां की एक नहीं मानी—'तुम नहीं चलोगी तो मैं उपवास करूंगा।' और उसे जाना पड़ा। मन में इस बात का बल अनुभव किया—'मैं अकेली नहीं हूं।'

वह मैट्रिक में थी, तब धनसुखलाल मेहता की 'मां' शीर्षक कहानी पढ़ी थी और तभी उसने निश्चय किया था कि ऐसी करुण और लाचार स्थिति में मैं अपने-आप को नहीं पड़ने दूंगी। दो लड़के अपने-अपने परिवार के साथ अलग रहने लगे, तब से तीसरे लड़के पर मां की सारी आशा केंद्रित हो गई थी। यह लड़का भी मुझे छोड़ कर नहीं चला जाएगा न? और वह न जाए, इसके लिए कितने-कितने प्रयत्न किए थे। फिर भी, एक दिन तीसरा लड़का नीचे से आवाज देकर सीढ़ियां उतर रही मां से कह ही देता है—'मां, कल से हम अलग रहने जाने वाले हैं।'

कहानी पढ़ कर उसके मन में मां के प्रति सहानुभूति जाग्रत होने के बदले कुछ रोष जागा था। दूसरे लोगों पर, भले वह अपना सगा पुत्र ही क्यों न हो, इतना अधिक अवलंबन क्यों? किसलिए दूसरों को उनकी जिंदगी सुख से जीने नहीं दी जाए? और किसलिए स्वयं भी सुख से न रहें?

मैं कभी पुत्रों पर आश्रित नहीं रहूंगी—मन-ही-मन उसने सोचा था। और विवाह होने पर वृद्धा सास को जिंदगी के टुकड़ों के लिए मिथ्या प्रयत्न करते देखा, तब तो उसने यह निर्णय मन में पक्का ही कर लिया था।

वृद्धावस्था की एक बड़ी कमनसीबी शारीरिक शक्ति की क्षीणता है—यह सोच कर उसने अपनी तंदुरुस्ती कायम रखने के लिए हर संभव प्रयत्न किए थे। पैसों के संबंध में भी उसने पति के साथ बहुत बार चर्चा की थी। जीवनकाल के बीच ही पैसों की सारी व्यवस्था लड़कों को सौंप कर उनके मोहताज हो जाने वाले अपने मित्रों को उसने देखा था। इसलिए उन्होंने पहले से अपनी वसीयत लिख रखी थी। दोनों जीवित हों, तब तक तो कोई फर्क नहीं पड़ता, एक-दूसरे को संभाला जा सकता था। लेकिन फिर

दोनों में से कोई एक भी जाएगा··· कल्पना कर उसका हृदय कांप उठता।

उस कहानी की 'मां' की तरह उसके भी तीन बेटे थे। बड़ा बेटा इंजीनियर होकर विवाह होने के बाद अमेरिका चला गया था। वहां रह कर उसने मझले को भी बुला लिया था।

तीसरा बेटा रोहित भी पढ़ने में तेजस्वी था। विदेश-सेवा के लिए परीक्षा वह दे सकता था और उसे निश्चित ही सफलता मिली होती, लेकिन दो भाई विदेश में थे, इसलिए उसने भारत में ही रहने का निश्चय किया था। प्रबंध-सेवा की परीक्षा देकर उच्च पदस्थ सरकारी अधिकार बना। विवाह हुआ और एक वर्ष बाद उसके यहां एक पुत्री का जन्म हुआ। घर में जैसे चांदनी छिटक पड़ी।

फिर रोहित की बदली हुई। माता-पिता से उसने साथ चलने के लिए बहुत आग्रह किया, लेकिन दोनों ने मना कर दिया। आखिर बेटे ने हार मानी। कहा—'लेकिन, जिस क्षण भी आपको आने का मन हो, क्षण भर का भी विलंब किए बगैर तार या टेलीफोन कर दीजिएगा। मैं आकर ले जाऊंगा।'

जाते-जाते उसकी आंखें गीली हो गईं। वृद्ध होने आए माता-पिता उसे छोटे बालक जैसे लगे। पिता से उसने कहा—'मुझे वचन दें कि आप अपने-आप को जरा भी तकलीफ नहीं उठाने देंगे।

माता-पिता का हृदय भी भर आया। पुत्र दूर रहे या पास, उसकी भावनाओं का ऐसा समृद्ध खजाना अपने चरणों में पड़ा है। चिंता नहीं। हंस कर पुत्र को, पुत्रवधू को और पौत्री को विदा किया। फिर घर के अंदर आते हुए पत्नी ने पति से स्निग्ध स्वर में कहा—'एक-दूसरे के सहारे हम आनंद से जी लेंगे।'

विधाता ने उसकी यह बात सुनी होगी और एक मुक्त हास्य किया होगा। स्वावलंबन की बात करते-करते सहारा लेने की बात कब आ जाती है, पता नहीं चलता न!

काफी चीजों का पता नहीं चलता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अणु के अस्तित्व का पता चलता हो, इतनी सूक्ष्मता से शुरुआत होती है और फिर पानी की कोरी रह गई जगत में से कब 'कलि' प्रवेश कर घुटनों में दर्द के रूप में निवास करता है, इसका भी पता नहीं चलता। कुछ लंगड़ाते-लंगड़ाते वह रसोई में गई। बहुत वर्षों बाद फिर से रसोई का काम हाथ में आया था। रोहित सारे दिन के लिए नौकरानी की व्यवस्था कर गया था, फिर भी रसोई में छोटे-बड़े काम करने ही होते हैं। फिर से एक बार सारी वस्तुओं पर अपना नियंत्रण हुआ था। उसे अच्छा लगा। दोनों अब बहुत सारे काम साथ ही करते। रोहित ने माता-पिता—दोनों के लिए गद्दी वाली खूब आरामदेह कुर्सी मंगवाई थी, उसमें बैठ कर दोनों साथ-साथ अखबार पढ़ते, किसी समाचार के संबंध में चर्चा करते। साथ-साथ रसोई का काम करते। शाम को घूमने जाते। यौवनकाल में साथ का जो रोमांचक आनंद अनुभव किया था, वह फिर से शांत और मधुर रूप में जीवन में आ मिला हो, ऐसा लगता।

सबकुछ गुजर जाता है—सुख के दिन हों या दुख की रातें। घर के कोनों में आसन जमा कर बैठते नहीं। दूर की नियति की छाया का एक टुकड़ा बरामदे में फैला। घुटनों का दर्द बढ़ा। फिर पाचन पर असर हुआ। अब आनंदी की उम्र पैंसठ थी और पति की अड़सठ।

पहले पति बीमार पड़े। दवा की, लेकिन दर्द बढ़ने लगा। पता चला कि कैंसर है। छोटे लड़के की अभी देहरादून बदली हुई ही थी। फिर भी तुरंत ही वहां से आया। पिता को अस्पताल में भर्ती किया, अच्छी से अच्छी सुविधा मिले, ऐसी व्यवस्था की और फिर छुट्टी पूरी हो जाने से चला गया, लेकिन पत्नी और पुत्री को छोड़ता गया। छोटी बच्ची की उपस्थिति की झंकार से घर गूंज उठा। अच्छा लगा, लेकिन बीमारी से अब वापस लौटने की स्थिति नहीं थी।

आखिर वह महान पल आया—मृत्यु और मुक्ति का। सभी लड़के, लड़कों की पत्नियां, उनके बालक, सब आ गए थे—अंतिम दर्शन के लिए, विदा के लिए। एक क्षण को आनंदी को लगा कि जीवन की अपेक्षा मृत्यु की महिमा अधिक होगी। अमेरिका में रहते हुए दोनों लड़के पिछले सात वर्षों से आए नहीं थे, आ नहीं सके थे। लेकिन, मृत्यु की घड़ी का मान उन्होंने रख लिया था।

सबकुछ हो गया। पति की बीमारी ने अनुमान से बहुत अधिक जीवन-बल उसमें से छीन लिया था। दोनों बड़े लड़के परिवार के साथ वापस विदेश चले गए। मां से साथ चलने का बहुत आग्रह किया, लेकिन उसने मना कर दिया। छोटा लड़का मां के पास रुका रहा। उसने मां की एक नहीं मानी—'तुम नहीं चलोगी तो मैं उपवास करूंगा।' और उसे जाना पड़ा। मन में इस बात का बल अनुभव किया—'मैं अकेली नहीं हूं।'

देहरादून की घाटी के बादल, कोहरा, दूर के पहाड़ों पर उतरती छाया देख वह खुश हुई। यों, अपने ही

स्वावलंबन पर जीने की बात मन में बराबर चलती रही। फिर भी इस तरह बेटे के परिवार के साथ रहने से मन को बहुत सुख मिला।

लेकिन, मुश्किलों के छोटे-छोटे झंखाड़ सुख के बाग में भी कभी-कभी निकल ही पड़ते थे। लड़का सरकारी अधिकारी, उसके यहां यदा-कदा पार्टियां भी होतीं। अबके जमाने की पार्टियों में क्या-क्या होता है, इस बात का पता सबको है। आनंदी भले विश्वविद्यालय की ग्रेजुएट थी, लेकिन वह तो सन सैंतालीस-अड़तालीस की बात है। आज के जमाने के साथ उसका तालमेल कैसे बैठ सकता है? इसलिए पार्टी होती तो घंटों तक वह अंदर के कमरे में रहती। कभी बैठक में होती और पुत्रवधू से दूसरे अधिकारियों की पत्नियां मिलने आतीं, तब उठ कर वह अंदर चली जाती। उसे लगता, घर में जैसे वह खटकती है। चाहे जैसे भी, वह मेहमान हो, ऐसा अनुभव करती। यह घर उसका नहीं—उसके पुत्र का है।

देश से पत्र आते। गुलाब के पति हार्ट अटैक से गुजर गए थे···, सुमन भाई की पत्नी को गिरने से पांव में फ्रैक्चर हुआ है···, गीता मौसी के पति बहुत बीमार हैं···—डाक्टरों ने आशा छोड़ दी है। एक के बाद एक, फिर एक दीर्घ समय से परिचित, जिनके साथ स्नेह का आदान-प्रदान हुआ हो, ऐसे संबंधी अब विदा लेने लगे थे।

- एक बार पुत्र के एक मित्र ने उसे खाने पर आमंत्रित किया—'साथ में अपनी मां को भी लाइएगा'—उसने रोहित से कहा। मां दूसरे कमरे में बैठी-बैठी सुन रही थी। जरा खुश हुई। चलो, किसी दूसरे घर में जाने को मिलेगा! लेकिन, वहां तो पुत्रवधू को कहते सुना—'नहीं-नहीं, मां तो किसी के यहां जाती ही नहीं। उन्हें किसी के यहां खाना-पीना अच्छा नहीं लगता।'

पति से बिछोह होते समय वह शांत रही थी, लेकिन उस दिन उसकी आंखें गीली हो गईं। अनजाने ही वह पति को संबोधित कर बोल उठी—'आप कहां हैं?'

फिर एक बड़ी समस्या आई। वर्ष में एक बार लड़के को छुट्टी मिलती है। काफी समय से उसने बीस-पचीस दिनों के लिए जापान जाने की योजना बना रखी थी। लेकिन, मां का क्या करें? यह प्रश्न उसे चिंतित किए हुए था। बहुत दिनों की खोज के बाद एक शिक्षित महिला मिली। वह अकेली ही रहती थी। उसने कुछ शर्तों के साथ मां के साथ रहना स्वीकार कर लिया। बेटे की पत्नी ने संकोच भरे स्वर में कहा—'बहन अच्छे घर की है। आपको अच्छा साथ मिलेगा। लेकिन···' वह अटक गई।

'लेकिन क्या बेटा?'—आनंदी ने धीमी आवाज में पूछा।—मां, आप भूल बहुत जल्दी जाती हैं। कही हुई एक ही बात बार-बार करती हैं। तो जरा ध्यान रखिएगा। वह नाराज होकर चली जाएगी तो कठिनाई होगी··· और माफ कीजिएगा, आपको जरा कम सुनाई देता है न, इसलिए टेलीविजन जोर से चलाती हैं, लेकिन उस बहन की शर्त है कि घर में शोर नहीं होगा तो मैं रहूंगी। इसलिए··· जरा धीरे चलाइएगा।'—उसने अत्यंत विनय से, आनंदी को बुरा न लगे, इस बात का हर तरह से ध्यान रख कर कहा—'देखिए न, बीस-पचीस दिनों का ही सवाल है। तब तक तो हम लौट ही आएंगे।'

बेचारा लड़का! पहले तो हर शनि-रवि को वे दूर-दूर घूमने जाते थे। मां के आने से यह कम हो गया था। अब विदेश यात्रा पर पहली बार जा रहा है। कितना उत्साह! लेकिन, मां की चिंता उन्हें सता रही थी।

वह तेजी से अंदर कमरे में गई और अपने बैग में कपड़ों के नीचे रखी पुस्तक निकाल लाई।—'मां' —कहानी फिर से पढ़ी—'नहीं, मुझे इस तरह के बंधन में नहीं रहना है। तुमने क्या निर्णय किया था, भूल गई आनंदी?'

उन लोगों के जापान जाने से आठ दिन पहले आनंदी ने अचानक ही कहा—'रोहित बेटा, मुझे देश जाने का बहुत मन करता है। मुझे वहां पहुंचा दो न!' और पुत्र के चेहरे पर छाई उदासी देख कर बोली—'वहां काली बहन अभी भी 'आउटहाउस' में रहती हैं न! उनकी लड़कियां भी बड़ी हो गई हैं। उनके पति हैं। सब मदद करेंगे। और देश में तो हमारे कितने ही सगे-संबंधी हैं। मुझे अच्छा लगेगा। तुम जरा भी चिंता न करना।'

रोहित ने पहले मना किया। फिर गांव छोड़ आने के लिए तैयार हो गया। उस समय फिर जरा बुरा लगा—'तुम नहीं चलोगी तो मैं उपवास करूंगा।'—एक बार कहा था। लेकिन—'अब तुम जाओगी तो मैं नहीं खाऊंगा।'—ऐसा कहे इसकी अपेक्षा उसे क्या थी? उसने अपने-आप को समझाया—'आनंदी, मन में तुम एक बात सोचती हो और हृदय में दूसरी बात अनुभव करती हो। तुमने कहा था—जीवन एक ही है और उसे अच्छी तरह जीना चाहिए। इस तरह जीने से पहले अपने मन को पहचानो, अपने अंतर प्रवाह को पहचानो।'

शेष पृष्ठ 46 पर

कुंवर नारायण की कविता

•

सृष्टि-बोध

यः पूर्व तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत·····
अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः·····
यतश्चोदेति सूर्योस्तं·····

वह अनुभव जिसे मैं जी चुका
एक जीवन था।
वह जीवन जिसे मैं मर चुका
एक रोमांचकारी अनुभव था—

जागृति यह—
सृष्टि के आरंभ वाली शांति जैसे।
रोशनी की एक भोली खलबली से भर
चिटकता क्षितिज—
जैसे अप्रकट संकल्प का कोई अजन्मा बीज
उर्वरा धरा के प्राणद रसायन में
अचानक मुक्ति का संकेत पाकर
सिर उठाए : विस्तरित हो
किसी आतुर सृष्टि का
दुस्साहसी अंकुर····स्वयं घोषित
अनिश्चित आदि-घटना
किसी भावी के लिए तैयार!

जागृति यह—
जो मुझ ही से
जिंदगी को छीन
मुझको जिंदगी को सौंप देती है।
उस भयानक रात्रि को मानो
नया तात्पर्य देती है।
कि जैसे उस निशा में
कहीं कोई चेतना-सी गुप्त
भावी को बराबर घेरती थी—घटित होने के लिए,
अति शून्य से
अति रूप होने के लिए!—

रात मानो
उन रहस्यों की अंधेरी मंत्रणा थी,
सूर्य उस षड्यंत्र का कोई सफल विस्फोट है।

पूर्व-परिचित चेहरों-से वे सितारे
रात की स्वप्नांत मौतों में
मुझे सोने न देते····ज्योति के संकेत
अगणित सूर्यों की शपथ खाते—
'अभी दिन होगा तुम्हारा
क्योंकि तुम
निर्माण की ईश्वर-व्यथा में
जागते हो!'

एक ही आलोक के विस्तार में आंखें
क्षितिज तक
पुनः निर्मित सृष्टि को
पहचान लेतीं।

शब्द—
पहला शब्द—
हर व्यक्तित्व
अपनी सृष्टि के सारांश में
अणुवत अकेला है।
उसे संदर्भ देना है।—

रसायन पूर्ण मिट्टी में
जगाती प्राण
रस-सिद्ध सूर्य की किरणें।
तपे कुंदन सरीखे
चमकते आकार····।

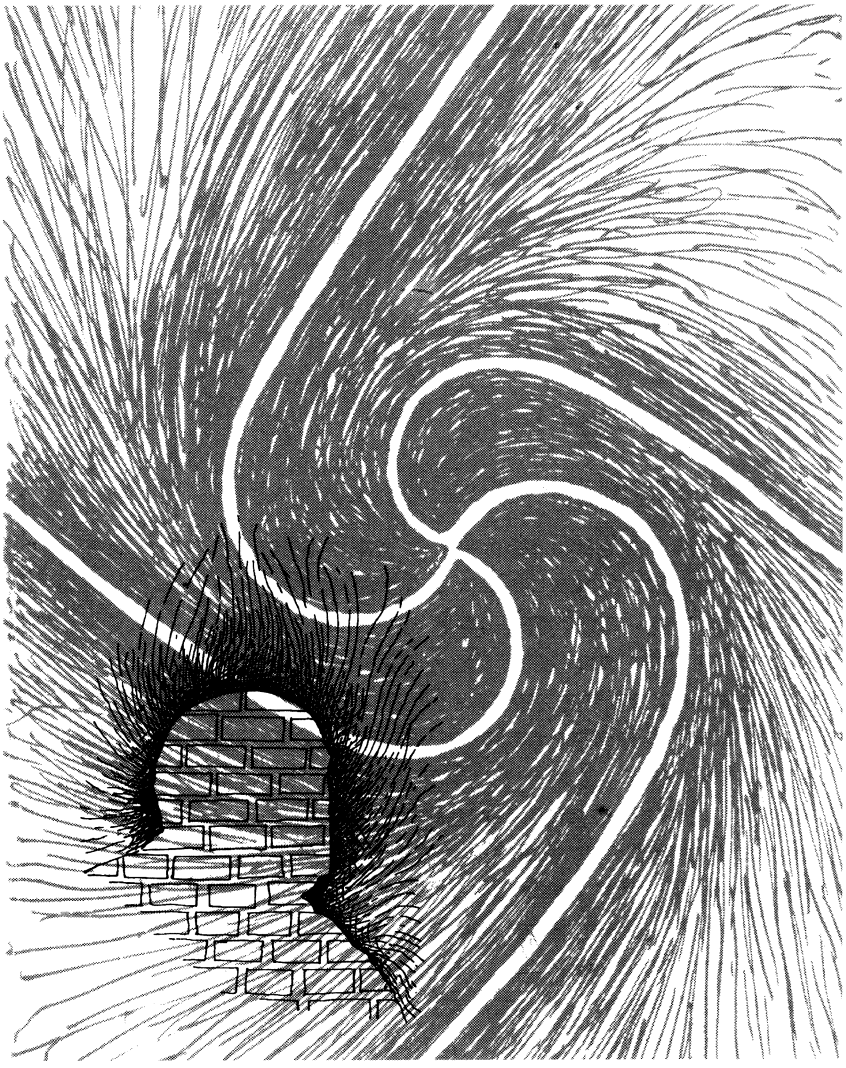

शीलन

हम में से कोई मृत्यु को टाल नहीं सकता, किंतु कम से कम युवकों को ऐसा विचार नहीं करना चाहिए। वृद्ध उतनी ही अवधि के लिए काम करते हैं, जितनी उनके लिए शेष है। किंतु, युवक शाश्वत काल के लिए काम करते हैं। उनका कार्य सनातन है।

—जवाहरलाल नेहरू

दिव्य निर्माण का आधार संस्कार, प्रज्ञा और नैतिक प्रेरणा

❑

भगिनी निवेदिता

नीति के स्तर पर इसी प्रकार विकास होता गया है। सर्वप्रथम दूसरों के प्रति सहानुभूति के भाव की जागृति, फिर संस्कार के द्वारा प्रज्ञा का विकास और अंत में वह नैतिक प्रेरणा—इन तीनों के द्वारा दिव्य स्फूर्ति का निर्माण होता है और इसीसे नवीन नीति, नई व्यवस्था, नव संस्था का सृजन होता है। इस प्रकार आज तक मानव जाति के द्वारा ईश्वर की ओर जाने के लिए, पूर्णता की ओर जाने के लिए निर्मित सोपान की एक और सीढ़ी का निर्माण हो जाता है। गगन व्यापी बुद्धि और सागर के समान विशाल हृदय वाले महापुरुष नई-नई सीढ़ियां बनाते हैं और मानव जाति ऊपर चढ़ती जाती है। अभिप्राय यह है कि सभी नवीन सामाजिक प्रगतियों का निर्माण नवीन सहानुभूति, नवीन उत्कट अनुभव और उनसे प्रसूत नवीन उच्चादर्शों से होता है। नई नीति, नई व्यवस्था उत्पन्न होती और पुरानों का सुधार होता है। समाज का, मानवता का पग आगे बढ़ता है। केवल एक प्रथा के स्थान पर दूसरी को प्रतिस्थापित करने से, वटवृक्ष की छाल पीपल को लगाने से कार्य संपन्न नहीं होता, समस्या हल नहीं होती, समाज-सुधार नहीं होता।

व्यक्ति और समाज में परस्पर क्या संबंध हैं? हमारे व्यक्तिगत जीवन की मर्यादा कहां तक है? समष्टिगत जीवन के कारण हमारे व्यष्टिगत जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है और वह किस प्रकार मर्यादित होता है? शरीर के एक अंग के रूप में यह विराट समाज किस प्रकार हाथ-पैरों आदि इंद्रियों वाला एक उपकरण मात्र है? इन प्रश्नों के बारे में बहुत थोड़ा और बहुत बिरला विचार ही हो पाता है। परंतु, इनसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सद्यः स्थिति में कदाचित ही कोई हो। किसी विख्यात यूरोपीय समाजशास्त्री का कहना है—'विकास की प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य 'हम' की भाषा में सोचता है और उत्तर अवस्था में 'मैं' की भाषा में।'—यह कथन वदतोव्याघात लगता होगा, किंतु वैसा है नहीं। अधिकांश सुशिक्षित लोग जानते होंगे कि यदि मेंढक का मस्तिष्क निकाल लिया जाए और फिर उसके पिछले पैर पर अम्ल की एक बूंद डाली जाए, तो वह अपना पैर पीछे खींच लेता है और उसकी टांग ऐंठ कर शरीर की ओर मुड़ जाती है। विज्ञान में इसे 'प्रतिक्षेपी क्रिया' (Reflex action) कहते हैं, क्योंकि यह क्रिया चेतना के बीच में आए बिना ही

होती है। अम्ल की प्रतिक्रिया का ज्ञान पैर को मज्जातंतुओं के द्वारा संवेदनात्मक न होकर उनके बिना ही हुआ है, इसे प्रतिक्षेपी ज्ञान कहते हैं। तथैव हमारा अधिकांश सामाजिक आचार भी—प्रायः वह सभी—जो हमारे चरित्र का अंश बन गया है, प्रतिक्षेपी होता है। उदाहरणार्थ, यदि हमारे कुलाभिमान को किसी ने ठेस पहुंचाई तो परिवार के प्रत्येक सदस्य के मन में प्रतिशोध की प्रेरणा उठती है। पुरुष प्रत्यक्ष प्रतिशोध की कोई क्रिया करेंगे तो महिलाएं दुर्वचन कहेंगी, कोसेंगी। क्या यह प्रतिशोध योजना बद्ध होता है अथवा सहज प्रवृत्त? क्या इस उदाहरण से उपर्युक्त यूरोपीय विद्वान का कथन प्रमाणित नहीं होता? जहां तक परिवार या कुल के विषय में विचार होता है, अब भी हम अकेले का—'मैं' का नहीं, वरन सबका—'हम' का विचार करते हैं। मानव जाति के क्रमिक विकास की ओर दृष्टिक्षेप करने पर हमें दिखाई देगा कि समीक्ष्य काल जितना पूर्व-भावी हो, यह वृत्ति उतनी ही अधिक प्रबल होगी। जिस युग में व्यक्ति का कार्यक्षेत्र सीमित था, तब प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार, जाति या वंश के आदर्श के अनुरूप रहता था। उत्तर युग में जैसे-जैसे मनुष्य का अपने बंधुओं एवं संबंधियों से शारीरिक विभेद बढ़ता गया, व्यक्तियों का परस्पर संबंध कम होता गया—आचार बदलते गए, विचार बदलते गए। एक ही परिवार के लोगों के ध्येय भिन्न, आचार-विचार भिन्न होते गए। समाज की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक सामाजिक संस्था की अपनी प्रतिक्षेपी चेतना, अपनी आचार-संहिता और अपने आदर्श होते हैं। एक पत्नी व्रत और बहु-पत्नी व्रत, दोनों का अपना-अपना नैतिक तर्क है। यूरोपीय सतियों का वर्णन वहां के कवियों ने किया है, जैसे भारतीय सतियों का यहां के कवियों ने किया है। यूरोप की जोन आफ आर्क और हमारी सीता-माई—दोनों साध्वी—किंतु, दोनों का स्वरूप भिन्न।

यह समग्र प्रतिक्षेपी चेतना, ये आचार-संहिताएं, ये आदर्श और इन सबसे निगमित्त (Deduced) आचरण के सिद्धांत का सम्यक् दर्शन ही नैतिकता कहलाता है। नैतिकता मूलतः व्यक्ति के माध्यम से समग्र मानवता की अभिव्यक्ति है। स्वाभाविक है कि सब युगों में नैतिकता का स्वरूप एक-सा नहीं होता। जैसे-जैसे सामाजिक अनुभव और बुद्धि, वैभव, ज्ञान वृद्धिंगत होता है—नैतिकता का स्वरूप भी सूक्ष्मतर और जटिलतर होता जाता है। एक समय था, जब पारिवारिक और जातिगत नैतिकता पर्याप्त मानी जाती थी, जब नैतिकता के नाम पर अन्य जाति के लोगों और उनके देवताओं का विनाश करना ठीक समझा जाता था। आज इस शताब्दी में भी हमें अपने चारों ओर दिखता है कि वही स्थिति है, आज भी अन्य समाजों का शोषण और लूट नैतिकता के नाम पर की जाती है, आज भी दूसरों की सभ्यता एवं संस्कृति की खिल्ली उड़ा कर अपनी सभ्यता एवं संस्कृति दूसरों पर बलपूर्वक लादने का कार्य नीति और मत-प्रसार के नाम पर प्रगतिशील राष्ट्र कर रहे हैं।

जबकि भारतीय संस्कृति की यह गौरवपूर्ण विशेषता रही है कि प्राचीनतम काल से ही संकुचित, जातिगत नैतिकता और आदर्शों को कभी नहीं अपनाया गया। यही वह तथ्य है, जो हमारे भवितव्य का दृढ़ आधार है। इसी आधार पर, इसी के बल पर, इसी पुण्याई पर भारत पुनः जगद्गुरु बनेगा—ऐसा दृढ़ विश्वास है। वेदांत का दर्शन, अनेकांत का दर्शन और अद्वैत का आदर्श भी सामाजिक जीवन एवं अनुभव से निकट संबद्ध है, अन्यथा ऐसे दर्शन का निर्माण ही न होता। भारतवर्ष में एक दिन ऐसा अवश्य आएगा, जब हमारे युवक संसार के गहनतम ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन कर उसमें पारंगत होंगे और समाज-संगठन और राष्ट्रीय उपलब्धि के बीच के संबंध का पता लगाएंगे। यह संभव है कि नाना जाति तथा वंश, नाना आदर्श, नानाविधि आचार एवं रूढ़ि आदि का संश्लेषण एवं समन्वयन करने वाली चातुर्वर्ण्य व्यवस्था और इन सबको धर्म एवं अध्यात्म से जोड़ने वाली महान विचार-प्रणाली में जो बुद्धि की व्यापकता एवं विशालता, जो रचनापटुता दिखाई देती है, वह भविष्य में संसार को भारत की देन होगी। संभव है कि इसका और कोई रहस्य हो। यदि आज के हम भारतीय उन्हीं विशाल दृष्टि पूर्वजों के सुपुत्र हैं, तो हम भी संकुचित जातिगत नैतिकता को अंगीकार नहीं करेंगे। मानव-जाति के विकास की दृष्टि से संकुचित राष्ट्र की भावना नगण्य और उपेक्षणीय होगी। भारत श्रेष्ठ हो या कनिष्ठ, सत्य-विचारों, अभिजात और महान विचारों में वह अपरिमित सामर्थ्य रखता है। संसार पर भौतिक पदार्थों की नहीं, वरन आध्यात्मिक विचार और चैतन्य की सत्ता परिणामी एवं प्रभावी होती है।

हमारे ऋषि तथा योगी कहते रहे हैं कि साधना करते-करते एक ऐसी स्थिति आती है, जब हम ब्रह्मांड की भाषा में व्यवहार करने लगते हैं, हमारे जीवन में ब्रह्मांड-व्यापी अर्थ आ जाता है। क्षुद्र 'अहम्' और 'मम' समाप्त होकर हम ब्रह्मांडाकार हो जाते हैं। **भूर्भुवः स्वः**—सब लोक, रवि, चंद्र, तारे, समस्त चराचर हम व्याप्त किए रहते हैं। रुद्र सूक्त का ऋषि इसी प्रकार चराचर-व्यापी बनकर—**घृतं च मे, मधु च मे····गोधूमाश्च मे····। सत्य च मे, श्रद्धा**

च मे—इस प्रकार गर्जना करता है। वह वस्तु मात्र का वंदन करता है—**स्तेनानां पतये नमो····नमस्तक्षभ्यो···नमः कुलालेभ्य····· श्वपतिभ्यश्चवो नमः**—चोरों के नायक को, बढ़ई को, कुम्हार को, चांडालों के प्रमुख को नमस्कार, परंतु यह अवस्था पराकोटि की है। हम इस श्रेष्ठतम, परम अवस्था के कुछ नीचे उतर कर, स्वयं अपने को तथा अपने पुत्रों को ऐसी शिक्षा दें कि अपने व्यक्तित्व को विश्वाकार बना सकें, अपने जीवन को विश्व व्यापी अर्थ दें। इस विश्व व्यापी अनुभूति से हमारे अंदर समस्त मानव जाति के दुख से दुखी, आशा से आशान्वित और सुख से सुखी होने की शक्ति निर्माण होगी। समस्त मानवों की पीड़ा, यातना, अपमान हमारे व्यक्तिगत और सामुदायिक हैं—यह भाव अपने अंतःकरण में निर्माण करें। तब हमारे अंदर एक ऐसी शक्ति का सृजन होगा, जिससे समग्र संसार को समाविष्ट करने वाली विश्व-व्यापक नैतिकता जन्म लेगी।

नीति के स्तर पर इसी प्रकार विकास होता गया है। सर्वप्रथम दूसरों के प्रति सहानुभूति के भाव की जागृति, फिर संस्कार के द्वारा प्रज्ञा का विकास और अंत में वह नैतिक प्रेरणा—इन तीनों के द्वारा दिव्य स्फूर्ति का निर्माण होता है और इसीसे नवीन नीति, नई व्यवस्था, नव संस्था का सृजन होता है। इस प्रकार आज तक मानव जाति के द्वारा ईश्वर की ओर जाने के लिए, पूर्णता की ओर जाने के लिए निर्मित सोपान् की एक और सीढ़ी का निर्माण हो जाता है। गगन व्यापी बुद्धि और सागर के समान विशाल हृदय वाले महापुरुष नई-नई सीढ़ियां बनाते हैं और मानव जाति ऊपर चढ़ती जाती है। अभिप्राय यह है कि सभी नवीन सामाजिक प्रगतियों का निर्माण नवीन सहानुभूति, नवीन उत्कट अनुभव और उनसे प्रसूत नवीन उच्चादर्शों से होता है। नई नीति, नई व्यवस्था उत्पन्न होती और पुरानों का सुधार होता है। समाज का, मानवता का पग आगे बढ़ता है। केवल एक प्रथा के स्थान पर दूसरी को प्रतिस्थापित करने से, वटवृक्ष की छाल पीपल को लगाने से कार्य संपन्न नहीं होता, समस्या हल नहीं होती, समाज-सुधार नहीं होता।

स्त्री-शिक्षा के प्रश्न पर भी उपर्युक्त विचार मन में आते हैं। भारतीय महिलाएं अपने लिए जितना कुछ कर सकती थीं, वे कर चुकी हैं। वर्षों पूर्व भारतीय महिलाएं अपनी मातृ भाषा में लिखना-पढ़ना भी नहीं जानती थीं। संपूर्ण देश में, मानो अंतःस्फूर्ति से इस प्रश्न को गति मिली, स्त्री-शिक्षा का प्रयास प्रारंभ हुआ। इस शिक्षा-प्रसार के लिए प्रथम चरण के रूप में अति आवश्यक सरल पुस्तकें एवं पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं और नव निर्मित सस्ती डाक-प्रणाली से नगरों के मुद्रणालयों से देश के उत्सुक ग्राहकों के पास पहुंचने लगी। महिलाओं ने स्वयं स्त्री-शिक्षा के कार्य का संगठन किया और कुछ बाहरी हित-चिंतकों ने भी सहायता की। धीरे-धीरे प्राथमिक शिक्षा फैली। बंगाल, महाराष्ट्र, मद्रास, पंजाब में कन्याएं स्वयं चाहने लगीं कि वे मातृभाषा में केवल पढ़ना ही नहीं, वरन लिखना भी सीखें। लिखने-पढ़ने की शिक्षा तो घर बैठे ही हो जाती है; घर ही पाठशाला हो गई। बंगाल में पुराणमतवादी महिलाएं रमेशचंद्र दत्त और बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यास, सचित्र पत्रिकाएं पर्याप्त मात्रा में पढ़ने लगीं। स्त्री-शिक्षा का अगला पग भी आगे बढ़ा और हृदय का अन्वेषण और विचार मंथन शुरू हुआ। शिक्षा सामाजिक जीवन का अति पवित्र, श्रेष्ठमय और धर्ममय अंग है और यदि इसे योग्य दिशा न दी गई तो अपाय एवं हानि होने की संभावना है। स्त्री-शिक्षा का हेतु और उसका प्रयोजन क्या है—इसी पर संपूर्ण शिक्षा की दिशा निर्भर करेगी।

हमारी बहनों और कन्याओं को संपूर्ण शिक्षा मिलनी चाहिए—ऐसा जब हम कहते हैं—तब उसके पीछे हमारा अभिप्राय क्या रहता है? **किं प्रयोजनम्, किमुद्दिष्टम्?** क्या हमारा उद्देश्य यह है कि वे प्रायः अस्तंगत हुए यूरोपीय आचार-विचारों से अलंकृत हों, जिससे विवाह के बाजार में उनका मूल्य बढ़े? यदि यही हेतु हो—तो जीवन के कठिन अवसरों पर बाजार-भाव की यह शिक्षा क्या धीरज और स्फूर्ति देगी? इस प्रकार की शिक्षा तो मात्र कृपा होगी, भिक्षा-दान होगा, इससे कोई स्वतंत्र विकास नहीं होगा, उनकी मुक्ति नहीं होगी। ऐसी दासता की शिक्षा देने की अपेक्षा उन्हें अशिक्षित रखना अच्छा होगा। हमारे युवक सोचते होंगे कि जिन कन्याओं से हमें विवाह करना है, वे यदि शिक्षित हों तो भविष्य में हमारा बहुत-सा कष्ट बचेगा। ऐसी पत्नी निस्संदेह सुविधाजनक होगी, जो स्वयं अस्वस्थ बच्चे का ताप देख कर लिख रखेगी, धोबी के कपड़ों का लेखा-जोखा रख सकेगी आदि। इससे आगे बढ़ कर हम सोचते हों कि घर के कोल्हू में जूती हुई, दाल-रोटी बनाने वाली, कपड़े धोने वाली, जिसमें इससे आगे विचार करने की शक्ति नहीं। मन एवं बुद्धि के विकास के अभाव में केवल एक श्रमवाही जीव, एक बंदिनी, ऐसी अपंग पत्नी की अपेक्षा हम जिसके साथ काव्य-शास्त्र-विनोद कर सकें, हमारे समतुल्य जिसकी वैचारिक एवं बौद्धिक क्षमता हो, जो चर्चा, वाद-विवाद कर सके—ऐसी

सुविद्य सहचरी, सहधर्मचारिणी हम चाहेंगे और इसलिए कन्याओं को शिक्षा देनी चाहिए। तब यह कहा जा सकेगा कि हमारी रुचि अच्छी है, हम अभिरुचि संपन्न हैं और अन्य साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक रुचिकर सुग्रास लेना चाहते हैं। हमारी रुचि, पुरुषों की चाह और यही शिक्षा का हेतु रहा तथा स्त्री की आत्मा, उसकी उन्नति का विचार नहीं रहा, तो हम स्त्री-शिक्षा के यथार्थ समर्थक एवं अधिवक्ता नहीं कहला सकते।

वास्तव में जिसे शिक्षा का नाम दिया जा सकता है, वह शिक्षा स्त्रियों को मिले और इसके लिए पुरुष उनकी सहायता करें। इसका एकमात्र आधार यह है कि दोनों के अंदर एक ही मानवीयता भरी है। इसी आधार के कारण एक-दूसरे के लिए दोनों विश्वसनीय एवं पूज्य होते हैं, दोनों समानरूप से सम्माननीय और उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार अंततोगत्वा लिंगभेद का विचार गौण हो जाता है। स्त्री-शिक्षा में जब तक यह हेतु न होगा, तब तक एक पुरुष किसी स्त्री को समानशीला, सहचारिणी, सहधर्मिणी नहीं मानेगा, अपितु सदैव से हीन मान कर उसे करुणा, दया, अनुग्रह का विषय बना रखेगा। मानवता प्रमुखतः आत्मा और अंतःकरण से संबद्ध है, शरीर से उसका संबंध अति गौण है। जो न्याय, पवित्र, सुंदर और सत्य है—उसी का चिंतन करें; उसी पर आचरण करें। इसकी पूर्तता करने और इसके अनुसार बरतने की आवश्यकता पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक है। परंतु, यह पूर्तता ज्ञान के अतिरिक्त और किस विषय में हो सकेगी?

पुरुष के समान स्त्री भी यदि मनुष्य-प्राणी है, तो पुरुष के समान ही अपना पूर्ण विकास करने का उसे भी अधिकार है। पुरुषों की शिक्षा के विषय में यदि हम उनकी शारीरिक क्षमता का विचार नहीं करते, तो हमें स्त्री-शिक्षा में वैसे विचार क्यों करना चाहिए? यदि सभी प्राप्य साधनों का उपयोग कर हम एक को उन्नत बनाने का प्रयास करते हैं, तो दूसरे की उन्नति के लिए भी समान रूप से प्रयास करना होगा। संसार-रथ के दोनों चक्र समान ऊंचाई के, समान स्तर के हों—तभी रथ ठीक चलेगा। स्त्री का विकास उसके मन, बुद्धि और शरीर का विकास है—यह ध्येय बने। ऐसा ही पवित्र और पुनीत लक्ष्य बने। स्त्री के अपने कल्याण के लिए, चरित्र-गठन के लिए, आत्मा के आनंद और उन्नति के लिए उसे शिक्षा मिले—न कि पुरुष के सुख और कल्याण का एक उपसाधन मात्र बनने के लिए। ❖

अनुवाद : विद्याधर ब. सरदेसाई

आचार्यश्री मघवागणी : वृत्ति और प्रवृत्ति में अध्यात्म के दर्शन

पृष्ठ 32 का शेष

वे आगामी वर्षों में विकसित करते गए। वे न केवल एक प्रभावक आचार्य बने, बल्कि दो महान युगप्रधान आचार्यों—श्री तुलसीगणी और श्री महाप्रज्ञगणी—के जीवन निर्माता भी बने।

संस्कृत विद्वान : आगम धारक

तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्यश्री मघवागणी संस्कृत के प्रथम विद्वान थे। वे आगम-साहित्य के महान धारक और अध्येता भी थे। वे एक अच्छे लिपिकार भी थे। सुंदर और सूक्ष्म लेखन में उन्हें बहुत कौशल प्राप्त था। लेखन के क्षेत्र में उन्होंने अभिनव कार्य किया। वे संस्कृत श्लोकों का शुद्ध उच्चारण और सही अर्थ करने में बहुत निपुण थे। वे उक्त विषयक त्रुटि को ज्ञान की आशावना मानते थे। पुस्तकों के उपयोग के प्रति भी वे बहुत सजग थे। अपने दीक्षागुरु और विद्यागुरु श्रीमज्जाचार्य के महान व्यक्तित्व को उजागर करने के लिए उन्होंने 'जय सुजस'—नामक ग्रंथ की रचना की। उन्होंने अनेक जीवन वृत्त लिख कर साहित्य के क्षेत्र में चिरस्मरणीय योगदान दिया।

अतींद्रियचेता महापुरुष

आचार्यश्री मघवागणी अंतर्मुखी और अतींद्रियचेता महापुरुष थे। विरोधी मानस को भी शीतल करने और यौक्तिक उत्तर प्रदान करने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। आक्रोश को पीने और अमृत को बांटने में वे सिद्धहस्त थे। उनकी शालीनता और विनम्रता हर विरोधी के दिल को भी छू लेती थी। विरोधी के क्रोध और विद्वेश के दावानल को मेघ बन कर शीतल कर देना उनके लिए अत्यंत सहज कार्य था। उनके पास विरोधी व्यक्ति भी आकर प्रसन्नता की बौछारों से आप्लावित और आनंदित हो जाते थे। चर्चा और शास्त्रार्थों के उस युग में सबके मन को जीत लेना आचार्यश्री मघवागणी जैसे समता-सागर महामानव के लिए ही संभव था। 53 वर्ष की वय में विक्रम संवत 1949, चैत्र कृष्णा पंचमी को सरदारशहर में उनका मध्य रात्रि में अनशनपूर्वक समाधिमरण हो गया। गण-गौरव मुनिश्री कालूजी की सूझ-बूझ और चतुराई से उन्हें चौविहार-अनशन का दुर्लभतम अवसर प्राप्त हो गया। ❖

सृजन या विध्वंश : हम क्या चाहते हैं

साध्वी शुभ्रयशा

प्रतिस्पर्द्धा के इस दौर में बच्चों पर लगातार तनाव बढ़ रहा है। माता-पिता की अपेक्षाओं को पूरा करने का तनाव, पढ़ाई का तनाव और अन्य गतिविधियों में भाग लेने की इच्छा—जब इनमें संतुलन नहीं कर पाता है, तभी बच्चा तनाव-ग्रस्त होता है। फिर हताशा, निराशा व अवसाद से घिर जाता है। एक बच्चे में किसी क्षमता का अभाव है, उसमें वह 'नंबर वन' रहे—यह आकांक्षा करना बच्चे के साथ, उसके मन, मस्तिष्क व सोच के साथ बेइंसा व अनुचित अपेक्षा है।

बच्चा यंत्र की तरह संवेदनहीन नहीं है। वह चेतनाशील है और उसके अपने कृत कर्म हैं। उसी के अनुरूप वह उसका फल पाता है। पुरुषार्थ की अपनी-अपनी क्षमता होती है। अतः किसी खास क्षेत्र में उससे 'नंबर वन' की इच्छा करना महामूर्खता है। बनिस्बत इसके, बच्चे की अर्हता को समझ कर, उसी दिशा में उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी जानी चाहिए।

इक्कीसवीं सदी का एक दशक पूरा होने वाला है। इस दशक की विकास की कहानी विलक्षण है। 'अरिहंत मिसाइल' इसी दशक का महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। विकास के साथ-साथ विनाश की कहानी भी हृदय-विदारक है। संसद हो या मंदिर और होटल हो या कि बाजार—हिंसात्मक वारदातों का 'ग्राफ' सब ओर ऊपर उठा है। आतंकवाद की घटनाएं चरम सीमा पर हैं। सरकार को इसकी चिंता भी है और हमें भी चिंता है, किंतु हम इस बात से बेखबर हैं कि अपने ही घर में हम अपने बच्चों की समुचित परवरिश नहीं कर के उन्हें अनजाने में आतंकवाद और हिंसात्मक कार्यों की ओर धकेल रहे हैं।

अपने प्यारे नन्हे-मुन्नों को हम विकास के नाम पर एक विकलांग मानसिकता की तरफ अग्रसर कर रहे हैं। हम अकसर यह सोचते हैं कि बच्चा छोटा है, अभी वह क्या जानता है, किंतु वैज्ञानिक तौर पर यह प्रमाणित हो चुका है कि तीन से पांच साल तक का बच्चा अपना व्यक्तित्व पूर्णतः विकसित कर लेता है। पांच साल का एक बच्चा भी अपने माता-पिता से यह अपेक्षा करता है कि उसे प्यार की भाषा में समझाएं और डांटें भी—तो प्यार से। इसी तरह बच्चों के सवालों को बेकार मान कर हंसी में न उड़ाएं, अपितु उनका जवाब दें। एक ही बात बार-बार कहने से बच्चे उसे अनसुना करते हैं, अतः यह न करें। यही नहीं, बच्चों से ऐसे असंभव वादे भी न करें, जिन्हें हम पूरा नहीं कर सकें और न उनमें ऐसी महत्त्वाकांक्षाएं पैदा करें, जो उनकी क्षमता में न हों। उनके दोस्तों का उपहास करना या किसी के साथ उनकी तुलना करना भी बच्चों को बुरा लगता है तथा उनके सामने कलह-कदाग्रह करना भी उचित नहीं है।

14 नवंबर
बाल दिवस पर विशेष

पर, जिनके पास अपने बच्चों को खिलाने-पिलाने, सुलाने और सहलाने का समय नहीं है, जिनके पास बच्चों को गोद में लेने का समय नहीं है और जो माताएं अपने बच्चों के साथ बैठ कर बतियाने का समय भी नहीं निकाल सकतीं, वे उनमें कोई सद्-संस्कार डाल सकेंगी?

बच्चों के मन में उठने वाली जिज्ञासाओं, प्रश्नों पर एक बार सोचें और उनका उचित समाधान दें—यह जरूरी है। घर में एक पौधा लगा देने भर से वह स्वतः विकसित हो जाएगा—ऐसा नहीं माना जा सकता। समय पर सिंचन करना, उसे खाद-पानी देना और उसे प्रतिकूलताओं से बचाना ही होता है—तभी एक पौधा वटवृक्ष का रूप धारण कर सकता है। ठीक इसी तरह एक बच्चा—जिसके पास समझने के लिए मस्तिष्क है और ज्ञान के लिए पांच इंद्रियां हैं—यदि उसकी सम्यक् देखभाल हो और उसे पूरे अवसर दिए जाएं तो वह सहज ही विकसित हो सकता है। इसी के साथ अनेक ऐसी सामाजिक घटनाएं हैं, जिनका पांच से अट्ठारह वर्ष के बच्चों पर जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है और उससे कई विकृतियां भी घर कर जाती हैं। यौनशोषण, यौन-अपराध और विभिन्न हिंसात्मक घटनाएं अथवा मनोवैज्ञानिक विकृतियों के किस्से अखबारों की सुर्खियों में आए दिन जनमानस को उद्वेलित करते हैं।

एक ओर टेलीविजन, 'इंटरनेट और वीडियो गेम्स' से घिरा बचपन है, तो दूसरी ओर आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्धा है। अभिभावकगण भी इसी दौड़ में अपने वास्तविक कर्तव्य को भूल रहे हैं। वे बच्चों को मात्र 'रोबोट' बना रहे हैं। बच्चे के जीवन को हमने बिना 'ब्रेक' की कार बना दिया है। घर में अपने पिता से बच्चे जल्दी उठ जाते हैं, क्योंकि सुबह जल्दी तैयार होकर उन्हें स्कूल जाना होता है। स्कूल से घर आए, भोजन किया और ट्यूशन गए। ट्यूशन से घर लौटे और 'होमवर्क' में जुट गए। कभी यदि 'होमवर्क' नहीं कर सके तो उन्हें स्कूल जाने में भय लगता है। अपनी आकांक्षाएं पूरी करने के लिए क्या हमने बच्चों का बचपन उनसे छीन लिया है? जिनके पास न हंसने के लिए समय है, न खेलकूद है और न ही दादी-नानी से कथा सुनने का समय है। फिर संस्कार-निर्माण की बात कैसे हो सकती है?

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यही वह समय है, जब बच्चे को अपने प्रियजनों की निकटता अधिक से अधिक अपेक्षित रहती है। इस समय यदि बच्चे को किसी अन्य के भरोसे छोड़ दिया जाता है, तो वह बच्चा हमेशा-हमेशा के लिए अपने माता-पिता के प्रति उदासीन हो जाता है। कुछ और बड़ा होने के बाद बच्चों के रिश्तों की नई कहानी प्रारंभ हो जाती है और ऐसी स्थिति में माता-पिता के प्रति बच्चों का अपनत्व का भाव कैसे रह सकता है? वर्ष 2008 में हुए एक शोध से यह बात स्पष्ट होती है कि सान्निध्य या साहचर्य से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है। परिवार में अपनत्व का वातावरण, परिवार में पालन-पोषण के तरीके और घर का वातावरण—बच्चे के व्यक्तित्व व व्यवहार को उन्नत बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामंजस्यपूर्ण व्यवहार बच्चे को एक सुकून देता है, जबकि विपरीत स्थितियां, परिवार में आपसी कलह, अलगाव और तलाक जैसी घटनाएं बच्चे के भीतर नकारात्मक भाव और असुरक्षा उत्पन्न करते हैं।

प्रतिस्पर्द्धा के इस दौर में बच्चों पर लगातार तनाव बढ़ रहा है। माता-पिता की अपेक्षाओं को पूरा करने का तनाव, पढ़ाई का तनाव और अन्य गतिविधियों में भाग लेने की इच्छा—जब इनमें संतुलन नहीं कर पाता है, तभी बच्चा तनाव-ग्रस्त होता है। फिर हताशा, निराशा व अवसाद से घिर जाता है। एक बच्चे में किसी क्षमता का अभाव है, उसमे वह 'नंबर वन' रहे—यह आकांक्षा करना बच्चे के साथ, उसके मन, मस्तिष्क व सोच के साथ बेझा व अनुचित अपेक्षा है।

बच्चा यंत्र की तरह संवेदनहीन नहीं है। वह चेतनाशील है और उसके अपने कृत कर्म हैं। उसी के अनुरूप वह उसका फल पाता है। पुरुषार्थ की अपनी-अपनी क्षमता होती है। अतः किसी खास क्षेत्र में उससे 'नंबर वन' की इच्छा करना महामूर्खता है। बनिस्बत इसके, बच्चे की अर्हता को समझ कर, उसी दिशा में उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी जानी चाहिए।

आज लाड-प्यार के वशीभूत होकर समय से पहले बच्चों के हाथों में 'मोबाइल', 'इंटरनेट' व 'वीडिओ गेम्स' जैसे उपकरण थमा दिए जाते हैं। वे इनका उपयोग करना भी पूरी तरह नहीं जानते। समाज विज्ञानियों-मनोवैज्ञानिकों के सर्वेक्षण बताते हैं कि बच्चे जब इन पर हिंसक कार्यक्रम देखते हैं तो इससे उनके भी हिंसक होने की संभावना बढ़ जाती है। 'अमरीकी अकादमी ऑफ पीडियाट्रिक्स' के अनुसार जो बच्चे 'डब्लू डब्लू एफ' जैसे कार्यक्रम अधिक देखते हैं, पर दृश्य व वास्तविक परिस्थिति में वे अपेक्षित भेद रेखा नहीं कर पाते—वे ही बच्चे खेल-खेल में

हिंसात्मक घटनाओं को अंजाम दे डालते हैं। जापान के 'टोहोकू यूनिवर्सिटी' के वैज्ञानिक रियूता कावाशीमा ने अपनी शोध-रपट में बताया है कि घंटों तक 'कंप्यूटर गेम्स' खेलने से बच्चों के दिमाग के उस हिस्से को नुकसान पहुंचता है, जहां से हिंसक व्यवहार नियंत्रित होता है। 'इंटरनेट एंड मोबाइल एसोसिएशन ऑफ इंडिया' के अनुसार भारत में इस समय करीब पांच करोड़ 'इंटरनेट' उपभोक्ता हैं और पूरे विश्व में भारत पांचवें स्थान पर है। हम अनुमान लगाएं कि अगले बीस वर्षों में भारत में विकास का 'ग्राफ' कैसा होगा—सृजनात्मक या विध्वंसात्मक? यदि हमें सृजनात्मक दिशा में आगे बढ़ना है, तो अपने पारिवारिक परिवेश व माता-पिताओं के व्यवहार पर ध्यान देना आवश्यक है।

इसी के साथ हमें एक दूसरा पहलू भी देखना चाहिए। सामान्यतः यह अनुभव करते हैं कि बच्चे स्वाद के लिए अधिक खाते हैं। स्वाद के लिए खाना एक प्रकार से धीमा जहर सेवन करना है। इसके कारण भी बच्चों में हिंसा, आक्रोश, अधृति व चिड़चिड़ापन बढ़ता है। माता-पिता के साथ आए दिन होटलों में जाना तथा 'भोजन', 'माइक्रोवेव' व 'जंकफूड' का उपयोग करना आम बात हो गई है। जो बच्चे स्वभावतः शांत होते हैं, वे भी जब 'केक' खाते हैं—जिसमें प्रधानतः 'सोडा' व 'कैंडी' होता है—के बाद अति चंचल हो उठते हैं। इन पदार्थों का बार-बार और जल्दी-जल्दी सेवन करने से उनमें उछल-कूद, रोने, बहस करने अथवा आक्रामक प्रवृत्तियां बढ़ जाती हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार 'जंक-फूड' में 'विटामिन' व 'मिनरल्स' का अभाव होता है और उसका सीधा असर बच्चे के दिमाग और व्यवहार पर पड़ता है। मैदे के पदार्थों—पीजा, बर्गर आदि—का सेवन जितना अधिक किया जाएगा, उतना ही पाचन-तंत्र कमजोर होगा। ये पदार्थ पेट तो भर देंगे, लेकिन समुचित संपोषण नहीं कर सकेंगे, क्योंकि इनमें आवश्यक उपयोगी तत्त्वों का अभाव होता है। शरीर के पोषण में सहायक आवश्यक रस-रसायन के अभाव में क्या शरीर सुचारू रूप से कार्य कर सकेगा? यह बात बच्चों से अधिक माता-पिता के लिए सोचनीय है। बच्चों को प्यार करने के नाम पर कहीं उनका कुपोषण तो नहीं कर रहे हैं?

अलग-अलग शोधों से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आ गई है—'जंक-फूड' का अधिक सेवन करने के कारण कुपोषण की संभावना बढ़ी है तथा बच्चे अति चंचल प्रकृति के हो जाते हैं। अति चंचलता के कारण उनमें 'एजीडी—अटेंशन डिफ्रेंसिएट डिस आर्डर'—नामक बीमारी हो जाती है। इसके कारण से बच्चे अस्थिर हो जाते हैं। वे एक जगह बैठ नहीं पाते और न ही एकाग्रता से अध्ययन कर पाते हैं। बीच-बीच में दूसरों का व अपना भी ध्यान बंटा देते हैं। वे याद नहीं कर पाते हैं, क्योंकि स्मरण-शक्ति कमजोर हो जाती है। इससे वे पढ़ाई में पिछड़ जाते हैं और बार-बार डांट खाने पर जिद्दी स्वभाव के हो जाते हैं। वे हीन-भावना से भी ग्रसित हो जाते हैं। बड़ों की बात नहीं सुनते। ऐसे बच्चे भविष्य में 'कंडक्ट डिसआर्डर' का शिकार हो जाते हैं। 'लर्निंग डिसआर्डर' का कारण भी कुपोषण ही है। अभिभावक व अध्यापक स्वयं नहीं जान पाते कि बच्चा समझदार होते हुए भी वह सीखने में, स्मृति रखने में पीछे क्यों है? इस सबके चलते जब बच्चे को बार-बार प्रताड़ित किया जाता है, तो उसकी कार्य-क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। आगे जाकर वह अपराधी मनोवृत्ति का शिकार हो जाता है और कोई खतरनाक काम करते हुए भी नहीं हिचकिचाता। युवा अपराधियों पर ब्रिटेन में हुआ एक शोध इसी बात को जाहिर करता है कि आक्रामकता के लिए कोई व्यक्ति उत्तरदायी नहीं होता, बल्कि असंतुलित और अनियमित आहार उसे 'हिंसक' बना देता है। लार्ड रैक्सबोधम (जेल के पूर्व मुख्य निरीक्षक) इस बात से सहमत हैं कि अनुचित आहार समस्याओं को उत्पन्न करता है।

ठीक इसके विपरीत 'एप्पलटन सेंट्रल अल्टरनेटिव हाईस्कूल, विस्कांसिन' में एक प्रयोग किया गया। वहां कैंटीन में छात्रों को 'फास्टफूड' की जगह अंकुरित भोजन, फल, सब्जियां और सलाद-युक्त आहार दिया गया। परिणाम स्वरूप बच्चों के व्यवहार, आपसी झगड़ों, बुरी आदतों, स्वभाव की कठोरता, आक्रोश और चिड़चिड़ेपन में परिवर्तन आया। 'केलिफोर्निया स्टेट यूनिवर्सिटी' के प्रोफेसर स्टीफेन स्वेनथेलर ने शोध करके यह सिद्ध किया कि आहार में 'वसा' की मात्रा घटाने से 'आईक्यू' स्तर बढ़ता है और बच्चे शांत व शालीन स्वभाव के होते हैं। कुल मिलाकर यह बात स्पष्ट है कि आक्रामकता का निमित्त खराब पोषण है।

निष्कर्षतः यह तो हमें ही तय करना होगा कि हमारा बच्चा छोटा या बड़ा आतंक न फैलाए, अपराध न करे और न ही हमारी भावनाओं पर पैर रख कर उन्हें रौंदे। इसके लिए

आवश्यक है कि हम उन्हें साफ-सुथरी 'प्लेट' में पोषक आहार परोसें। आवश्यक होने पर ही समय के साथ अपेक्षित यंत्र उनके हाथों में दें, ताकि वे उनका सही उपयोग कर अपनी दक्षता बढ़ा सकें। उनका नियोजन उनकी अर्हता के अनुरूप करें। उन्हें कुशल व उचित कर्म के लिए प्रेरणा-प्रोत्साहन दें। अकुशल कर्म से दूर रहने के लिए बच्चों (पांच से अट्ठारह वर्ष तक) के साथ बराबर बैठें और उनसे बतियाएं।

फिर देखें, हमारे बच्चे कितने सच्चे, कितने अच्छे साबित होते हैं। उनके लिए प्रतिदिन पंद्रह मिनट का समय विसर्जन करें। विसर्जन से ही अर्जन होता है। उन्हें निम्नानुसार प्रयोग भी कराएं—

1.	श्वास प्रेक्षा	5 मिनट
2.	शशांकासन	5 मिनट
3.	अनुप्रेक्षा	5 मिनट

यह अनुचिंतन करें कि—'मुझे सच्चा, अच्छा बच्चा बनना है।' इस अनुचिंतन के समय जीभ का अग्र भाग तालु पर रहे।

वास्तविक अर्थों में 'अरिहंत मिसाइल' यही कही जा सकती है। इस मिसाइल का निर्माण बिना किसी झंझट और भारी लागत के संभव है। यह हमारे ही हाथों में है और हम यह संभव करके दिखा सकते हैं। ❖

मां

पृष्ठ 35 का शेष

..... बड़े 'कंपाउंड' में लगे सुंदर पौधे सारे सूख गए थे। ठूंठ रह गए थे। जगह-जगह घास उग कर सूख गई थी। हौज में पत्थर पड़े थे। दरवाजों-खिड़कियों के सिटकनी-कब्जों में जंग लग गई थी।

—'मैं मिस्त्री को बुला कर सब ठीक करवा लूंगी।'—उसने बेटे रोहित को आश्वासन दिया। पैसा तो तीनों लड़कों ने उसे दिया था, इसलिए पैसों की चिंता नहीं थी।

रोहित उसे गांव पहुंचा कर चला गया। उसे विदा करने के क्षण फिर वह एक रोमांचकता अनुभव कर रही थी। जीवन में इतने अधिक मोड़ आएंगे—ऐसा किसने सोचा था?'

काली बहन को, उसके पति को, बेटे-बेटियों को पहले तो उसने भेंट की वस्तुएं दीं। फिर इतने दिन घर की देखभाल रखने के लिए आभार माना। फिर उसने घर साफ करवाया, रंग करवाया, चूना पुतवाया, पुराना सामान फिंकवा दिया। नई जरूरत की चीजें मंगवाईं। ऊपर-नीचे पांच तो 'बेडरूम' थे उस घर में। तीन लड़कों के, एक अपना और एक मेहमान के लिए। कितने शौक से उसके पति ने घर बनवाया था!

पति की मृत्यु के बाद गुलाब बहन अकेली थीं। आनंदी के आने पर कुछ दिनों बाद मिलने आईं। काफी बातें कीं। हंसीं। साथ खाना खाया। रात हो गई, आनंदी ने कहा—'यहीं रह जाओ न! घर कहां कोई राह देखने वाला है?'

गुलाब बहन रह गई। दूसरे दिन सुमन भाई और उनकी पत्नी को संदेशा भेज कर बुलवाया। उनकी पत्नी बैसाखी के सहारे चलती थीं। एक कमरा उन्हें दिया। सुंदर व्यवस्था हो गई। अभी दो कमरे खाली थे। अकेला कौन-कौन है? और फिर जिसके साथ उनका मेल खा सके?

वसंत भाई अकेले थे। गांव में पुत्री थी, कभी-कभी खबर ले जाती थी, खाने के लिए दोनों समय टिफिन भेज देती थी। लेकिन, अकेले तो थे ही न, इसलिए उन्हें बुलवा लिया। और अंत में मीना मौसी आई। सत्तर में एक-दो कम, लेकिन स्वस्थ। गोल-मटोल, हंसमुख मजाकप्रिय। आकर सबको बैठे देखा तो हंसते-हंसते कहा—'लो रे, तुमने तो गांव लौट कर वृद्धों का घर बना डाला अपना घर!'

सुमन भाई की पत्नी को—'वृद्ध' शब्द अच्छा नहीं लगा—'ऐसा क्यों कहती हो? यह तो हमारा सबका नया घर है।'

फिर तो वातावरण कुछ जीवंत बन गया। सबको लगने लगा कि वे सबकुछ अधिक जीवंत बने हैं। एक नया उत्साह उनके मन में था और फिर आनंदी अपने 'रूम' में जाकर बैग में से वह कहानी वाली पुस्तक ले आई—'चलो, हम सब बैठें और ध्यान से सुनें। मैं एक सुंदर कहानी कहती हूं।'

और फिर उसने स्पष्ट स्वर में—'मां'—कहानी पढ़नी शुरू कर दी। ❖

—अनुवाद : गोपालदास नागर

तत्त्व का ज्ञान : मुक्ति का सोपान

मुनि रश्मिकुमार

आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का संबंध मुख्यतः कषाय एवं योग की सहायता से होता है। कषाय की प्रबलता में कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक संख्या में चिपकते हैं, अधिक काल तक रह सकते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय निर्बल होने पर बंधन भी बलवान नहीं होता। ईंधन जितना आर्द्र (गीला) होता है, प्रकाश के साथ उतना ही धुंआ अधिक होता है। इसी तरह आत्मा के कषाय और योग आस्रव प्रबल होते हैं, तो कर्म का बंध भी प्रबल होता है। जब कषाय का नाश हो जाता है, तब अशुभ कर्म का बंधन तो बिल्कुल ही रुक जाता है और जो शुभ कर्म बंधता है, वह पहले समय में बंधता है, दूसरे समय में उदय में आता है और तीसरे समय में नष्ट हो जाता है, इसलिए आत्मा की मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं आती।

जैन धर्म में तत्त्वज्ञान का बहुत बड़ा महत्त्व है। वरदर्शी अर्हंतों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप में मोक्ष-मार्ग का जो निरूपण किया है, उसमें प्रथम है—तत्त्व का ज्ञान। जब तक मुमुक्षु-आत्मा को जीव-अजीव आदि तत्त्वों की जानकारी नहीं होती, तब तक वह मोक्ष मार्ग में गतिशील नहीं हो सकता है। तब उसके मन में सहज प्रश्न उभरता है कि तत्त्व क्या है? संसार भ्रमण के और संसार भ्रमण से मुक्त होने के हेतु-भूत कौनसे तत्त्व हैं

जैनदर्शन के अनुसार मुख्य तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव—**जीवच्चेव-अजीवच्चेव** (ठाणं 2), इनका ही विस्तार है—नवतत्त्व। ठाणं नौ का पाठ है—**णव सब्भाव पयत्था पण्णत्ता, तंजहा-जीवा, अजीवा, पुण्णं, पावं, आसवो, संवरो, णिज्जरा, बंधो, मोक्खो**—जीव, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष आत्मा के ही विशेष परिणाम-अवस्था विशेष हैं। पुण्य, पाप, बंध पौद्गलिक कर्म अजीव के ही विशेष परिणाम-अवस्था विशेष हैं। जिस प्रकार लोक की व्यवस्था के लिए छह द्रव्य (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय) का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा के अवरोह-आरोह की प्रक्रिया को जानने के लिए आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा की प्रक्रिया का विवेक (हेय-उपादेय का ज्ञान) जरूरी है। नौ तत्त्व को जानना उपयोगी है। इन्हें बिना जाने आत्मा के विकास-ह्रास की प्रक्रिया बुद्धिगम्य नहीं हो सकती। ह्रास की प्रक्रिया—आस्रव, विकास की प्रक्रिया—संवर-निर्जरा के मर्म को समझना नितांत अपेक्षित है।

जिज्ञासु मुमुक्षु ने प्रश्न किया—भंते! संसार भ्रमण का अर्थात् जन्म-मरण का हेतु क्या है? आचार्य ने जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा—**आश्रवो भव हेतुः स्यात्**—संसार भ्रमण का हेतु है—आस्रव। जैन सिद्धांत दीपिका में आस्रव की परिभाषा इस प्रकार दी है—**कर्माकर्षक आत्म परिणाम आस्रव**—जीव और कर्म

का बंध आस्रव द्वारा होता है। शुभ-अशुभ कर्मों को ग्रहण करने वाला जीव का अध्यवसाय, परिणाम एवं प्रवृत्ति को आस्रव-कर्मागमन का द्वार कहा जाता है। तेरहद्वार में उदाहरण देकर आस्रव को समझाया गया है। जैसे तालाब को पानी से परिपूरित करने वाला निर्झर या नाला, हवेली (मकान) के दरवाजा और नौका के छिद्र होता है—वैसे ही जीव के आस्रव होता है। जैसे तालाब और नाला, हवेली और द्वार, नौका और छिद्र एक हैं—वे उन्हीं के अंग हैं—वैसे ही जीव और आस्रव एक हैं। आस्रव जीव का ही परिणाम है। किंतु, पानी और नाला या छिद्र, मनुष्य और द्वार एक नहीं—दो हैं, वैसे ही कर्म व आस्रव दो हैं। पानी नाला या छिद्र नहीं है, मनुष्य द्वार नहीं है, वैसे ही कर्म आए—वह आत्मपरिणाम आस्रव है, कर्म आस्रव नहीं है।

आस्रव पांच हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। उनमें मिलन तथा समाधि प्रसिद्ध है। वर्तमान में 'योग' एक प्रकार की साधना पद्धति अथवा आसन-प्राणायाम के अर्थ में बहुप्रचलित है। जैन शास्त्रों में 'योग' शब्द इन सबसे भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है। जैन सिद्धांत दीपिका में 'योग' की परिभाषा निम्न प्रकार दी गई है—**काय वाङ् मनो व्यापारो योगः**—वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपक्षम से तथा शरीर-नाम-कर्म के उदय से निष्पन्न और शरीर, भाषा एवं मन की वर्गणा (सजातीय पुद्गल समूह) के संयोग से होने वाले शरीर, वचन एवं मन की प्रवृत्ति रूप आत्मा के परिणमन को 'योग' कहते हैं। 'योग' एक प्रकार का स्पंदन है, जो आत्मा और पुद्गलवर्गणा के संयोग से होता है। यद्यपि अध्यवसाय, परिणाम और लेश्या भी एक प्रकार से स्पंदन ही है, परंतु अति सूक्ष्म स्पंदन होने से सामान्यतया पकड़ में नहीं आते। 'योग' स्थूल स्पंदन है, अतः स्पष्ट है।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, अशुभ कर्म के आस्रव—पाप बंध के हेतु हैं। इन से प्राणी प्रतिक्षण पापकर्म का बंध करता है। योग—**शुभोशुभोश्च**—शुभ, अशुभ दो प्रकार का होता है। आत्मा की आभ्यंतर प्रवृत्ति है—अध्यवसाय और बाह्य प्रवृति है—योग। दोनों शुभ-अशुभ, दोनों प्रकार के होते हैं। शुभयोग मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से तथा शुभनाम-कर्म के उदय से निष्पन्न होता है। शुभयोग क्षय, क्षयोपशम या उपशम से निष्पन्न होता है। इसलिए उससे (शुभयोग से) निर्जरा होती है और वह उदय से भी निष्पन्न होता है, इसलिए उससे शुभकर्म बंधते हैं। निर्जरा का कारण है—शुभयोग का क्षायिक, क्षायोपशमिक या औपशमिक स्वभाव। पुण्यबंध का कारण है—औदयिक स्वभाव। इन दो स्वभावों से दो काम होते हैं। जैसे सूर्य अपने दो स्वभावों से दो काम करता है—प्रकाश करता है और गर्मी बढ़ाता है। दीपक जलता है, उससे प्रकाश होता है और काजल भी बनता है। जो तेजोमय अग्नि है, उससे प्रकाश होता है और तेल-बत्ती जलते हैं, उससे कार्बन जमा होकर काजल बनता है। गेहूं बोने से गेहूं निपजता है, साथ में तूड़ी भी होती है। शुभयोग रूपी गेहूं से निर्जरा रूपी गेहूं निपजता है, परंतु पुण्य रूप तूड़ी से रहित नहीं उपज सकता, क्योंकि शुभयोग की वैसी स्थिति कहीं भी नहीं होती, जहां नामकर्म का उदय न रहे। इसलिए शुभयोग से जहां निर्जरा होती है, वहां पुण्य अवश्य बंधता है। ध्यान में रहे, निर्जरा शुभयोग से होती है, न कि शुभयोग आस्रव से। जैसे-जैसे निर्जरा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा विशुद्ध बनती जाती है। शुभयोग से निर्जरा होती है, अतः शुभयोग मुक्ति का साधक है और शुभयोग से पुण्य बंधता है—अतः मुक्ति का बाधक है।

शांत सुधारस की आस्रव भावना में उपाध्याय विनयविजयजी ने पुण्य को सोने की बेड़ी बताते हुए लिखा है—

शुद्धा योगा रे! यदपि यतात्मनां, स्रवन्ते शुभ कर्माणि।
कांचन निगड़ां स्तान्यपि जानीयाद्, हत निर्वृति शर्माणि।।

मन-वचन-काया के शुद्धयोग शुभकर्मों का आस्रवण (आकर्षण) करते हैं, किंतु तू उन्हें मोक्षसुख में बाधा डालने वाली स्वर्ण की बेड़ी जान। अशुभ योग से निष्पन्न पाप लोहे की बेड़ी है, पर हैं—दोनों बेड़ियां। महानिर्वाण तंत्र में स्पष्ट कहा गया है—

यथा लोहमयैः पाशैः, पाशैः स्वर्णमयै रपि।
तथा बद्धो भवेज्जीवः, कर्मभिश्च शुभाशुभैः।।
सोवण्णियं वि णियलं, बंधदि, कालायसं पि, जह पुरिसं बंधदि।
एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्म।।

बेड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की—बांधती ही है। इसी प्रकार शुभपुण्य, अशुभपाप कर्म बांधते ही हैं। कहा गया है—

यावन्न क्षीयते कर्म, शुभं वाऽशुभ मेव वा।
तावन्न जायते मोक्षो, नृणां कालशतैरपि।।

मोक्ष की परिभाषा है—**कृत्स्न कर्म क्षया दात्मनः**

स्वरूपावस्थानं मोक्षः—समस्त कर्मों का क्षय होने से आत्मा के अपने ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप में अवस्थित हो जाने का नाम है—मोक्ष। इसलिए मुक्त होने के इच्छुक भव्यात्मा को पुण्यार्जन की कामना कभी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि पुण्य की कामना करने वाला संसार की ही कामना करता है। मार्मिक गाथा है—

पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होइ।
पुण्णं सुगई हेदुं, पुण्णं-खएणेव णिव्वाणं।।

परमात्मप्रकाश 2/60 में योगींद्र कहते हैं—**पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ, मएण मइमोहो, मइमोहेण य पावं. ता पुण्णं अम्ह मा होउ**—पुण्य से विभव, विभव से मद, मद से मतिमोह, मतिमोह से पाप होता है, इसलिए हमें पुण्य मत होवे। समयसार 161 में स्पष्ट कहा गया है कि—

परमट्ठ बाहिरा जे, ते अण्णाणेण पुण्ण मिच्छन्ति।
संसार गमण हेऊं, विमोक्ख हेउं अयाणंतो।।

जो परमार्थ विमुख हैं, वे अज्ञान से पुण्य चाहते हैं। संसार और मोक्ष के हेतु को वे नहीं जानते।

तेरहद्वार में पुण्य-पाप को पथ्य-अपथ्य भोजन का उदाहरण देकर समझाया है। पथ्य आहार बढ़ने पर आरोग्य बढ़ता है, रोग घटता है। अपथ्य आहार बढ़ने पर रोग बढ़ता है, आरोग्य घटता है। पथ्य-अपथ्य दोनों प्रकार के भोजन के बिना मृत्यु हो जाती है। वैसे ही जीव के पुण्य बढ़ने पर सुख बढ़ता है, दुःख घटता है। पाप बढ़ने पर सुख घटता है, दुख बढ़ता है। पुण्य-पाप दोनों क्षय होने पर जीव मुक्त हो जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि बंध किसे कहते हैं और जीव-आत्मा के साथ कर्म का संबंध कैसे होता है?

जैन सिद्धांत दीपिका में कर्म की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की गई है—**आत्मनः सदसत् प्रवृत्याकृष्टा स्तत् प्रायोग्य पुद्गलाः कर्म**—आत्मा की सत्-असत् प्रवृतियों के द्वारा आकृष्ट एवं कर्मरूप में परिणत होने योग्य पुद्गलों को कर्म कहते हैं—**क्वचित् सदसत् क्रियापि**—व्यवहार में शुभ-अशुभ क्रिया को भी कर्म कहते हैं—**कर्म पुद्गलादानं बंधः**—आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों का संबंध दूध-पानी की तरह होता है, उसे बंध कहते हैं। जैसे तेल और तिल, घी और दूध, धातु और मिट्टी आपस में मिले हुए हैं, वैसे जीव और कर्मों का आपस में मिलना बंध है। वह प्रवाह रूप में अनादिकाल से चला आ रहा है।

सहज प्रश्न उभर सकता है कि क्या जीव-कर्म की आदि है? नहीं, क्योंकि ये कभी उत्पन्न हुए ही नहीं। तो क्या पहले जीव, बाद में कर्म बने? नहीं, कर्मों के बिना जीव कहां रहा? कर्म मुक्तात्मा पुनः आता नहीं। तो पहले कर्म, बाद में जीव बने? नहीं, कर्म किए बिना होते नहीं, जीव बिना कर्म करे कौन? तो क्या जीव-कर्म एक साथ उत्पन्न हुए? नहीं, दोनों को उत्पन्न करने वाला कौन? वस्तुतः अनादिकाल से जीव-कर्म का संबंध अपश्चानुपूर्वीतया (न पहले, न पीछे) प्रवाह रूप में चल रहा है।

पुण्य-पाप किसे कहते हैं? उनका बंध से क्या संबंध है? **शुभं कर्म पुण्यम; अशुभं कर्म पापम्**—शुभ कर्म को पुण्य और अशुभ कर्म को पाप कहते हैं। उदय में न आए हुए सत्-असत् कर्म पुद्गलों का नाम बंध है, वह पुण्य-पाप की बध्यमान अवस्था है। शुभाशुभ फल इससे नहीं मिलता। अतः बंध को द्रव्य पुण्य-पाप कहते हैं। उदीयमान शुभ-अशुभ कर्म जब शुभ-अशुभ फल देने लगते हैं, तब वे पुण्य-पाप कहलाते हैं। दोनों बंधकर्म की उदीयमान अवस्थाएं हैं। इनसे भौतिक अनुकूलता-प्रतिकूलता मिलती हैं, किंतु संसार भ्रमण छूटता नहीं है, जन्म-मरण से मुक्ति मिलती नहीं है—अलबत्ता कर्म निर्जरार्थ की गई सत्प्रवृत्ति से निर्जरा के साथ बंधे पुण्य से, यानी सहज अर्जित पुण्य द्वारा मुक्ति की ओर अग्रसर होने की अनुकूलताएं मिल सकती हैं और मिलती भी हैं। परंतु, मुक्ति-परमानंद का हेतु है—संवर-निर्जरा, न कि पुण्य।

शिष्य ने जिज्ञासा की कि—जब प्रतिक्षण कर्म का आस्रव होता है, तब जीव की मुक्ति कैसे हो सकती है?

आचार्य ने कहा—**संवरो मोक्ष कारणम**—आस्रव संसार का हेतु है, तो संवर मुक्ति का हेतु—**आस्रव निरोधः संवरः।**

आस्रव पांच हैं और उनके निरोधक संवर भी पांच हैं—सम्यक्त्व संवर, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग संवर। जैसे तालाब का नाला, हवेली का द्वार, नौका का छिद्र रोके—वैसे ही जीव के आस्रव को रोकना संवर है। आस्रव है—कर्मग्राहक अवस्था, संवर है—कर्म निरोधक अवस्था। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के प्रतिपक्षी संवर हैं—सम्यक्त्व संवर, व्रत संवर, अप्रमाद, अकषाय तथा अयोग संवर। सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर भी त्याग किए बिना सम्यक्त्व संवर नहीं हो सकता।

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के उपशम से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और संवर अप्रत्याख्यानीय चतुष्क के क्षयोपशम से होता है। व्यक्त-अव्यक्त आशा का परित्याग करना व्रत संवर है, ये दोनों त्याग करने से होते हैं। अप्रमाद, अकषाय, अयोग संवर त्याग करने से नहीं होते, तपस्या आदि साधनों द्वारा आत्मिक उज्ज्वलता से ही होते हैं।

संवर का हेतु निरोध है, निवृत्ति है और निर्जरा का हेतु प्रवृत्ति है। जैसे तालाब का पानी मोरी आदि से निकाला जाता है, नौका का पानी उलीच-उलीच कर निकाला जाता है, हवेली का कूड़ा-करकट साफ किया जाता है—वैसे ही शुभ प्रवृत्ति के द्वारा कर्मों को अलग कर आत्मा को उज्ज्वल बनाना निर्जरा है। आते हुए कर्मों को रोकना संवर है। पूर्वार्जित कर्मों का निर्जरण करना निर्जरा है। संवर के साथ निर्जरा अवश्य होती है। निर्जरा संवर के बिना भी होती है। उपवास में आहार का त्याग किया—वह संवर है। उसमें शुभ प्रवृत्ति होती है, उससे कर्म निर्जरण होता है, आत्मा उज्ज्वल होती है, अतः यह निर्जरा है। आत्म-विशुद्धि के लक्ष्य से की जाने वाली निर्जरा सकाम निर्जरा है और आत्म-विशुद्धि के लक्ष्य के बिना की जाने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा है।

निर्जरा और मोक्ष क्या है? अपूर्ण रूप से कर्मों का क्षय होना निर्जरा और पूर्णरूप से कर्मों का क्षय होना मोक्ष है। जैसे कोल्हू आदि के द्वारा तेल खलरहित, मथनी आदि के द्वारा घी छाछरहित और अग्नि आदि के द्वारा धातु मिट्टीरहित होते हैं—वैसे ही तप, संयम द्वारा जीव का सर्वथा कर्ममुक्त होना मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त करने के साधन हैं—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र (आस्रव का निरोध) और तप। जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है, चारित्र से आने वाले कर्मों को रोकता है और तप से बंधे हुए कर्मों को तोड़ कर आत्म-विशुद्धि करता है और पूर्ण विशुद्धि हो जाने पर मुक्त हो जाता है।

पूर्व में कहा गया है कि शुभयोग से निर्जरा व पुण्य बंध, दोनों होते हैं, इस क्रम के चलते मुक्ति कैसे हो सकती है?

आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं का संबंध मुख्यतः कषाय एवं योग की सहायता से होता है। कषाय की प्रबलता में कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक संख्या में चिपकते हैं, अधिक काल तक रह सकते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय निर्बल होने पर बंधन भी बलवान नहीं होता। ईंधन जितना आर्द्र (गीला) होता है, प्रकाश के साथ उतना ही धुंआ अधिक होता है। इसी तरह आत्मा के कषाय और योग आस्रव प्रबल होते हैं, तो कर्म का बंध भी प्रबल होता है। जब कषाय का नाश हो जाता है, तब अशुभ कर्म का बंधन तो बिल्कुल ही रुक जाता है और जो शुभ कर्म बंधता है, वह पहले समय में बंधता है, दूसरे समय में उदय में आता है और तीसरे समय में नष्ट हो जाता है, इसलिए आत्मा की मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं आती।

मुमुक्षु आत्मा आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा के मर्म को हृदयंगम कर संवर, निर्जरा का आलंबन लेकर वीतरागता के मार्ग पर गतिशील बने—यही अभीप्सा है।❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

आत्मशुद्धि साधनं धर्मः

❑

मुनि रजनीश

यह बड़ी भयंकर भूल हो रही है कि आज लोगों ने धर्म को जीवन से अलग ही, एक विषय बना लिया है। घंटा-आधा घंटा के पूजा-पाठ या ऐसा ही नित्य-नियम—बस इतने में धर्म की आराधना मान ली जाती है। पूजा-उपासना यदि संपूर्ण जीवन के साथ, हमारे दैनंदिन स्तर पर नहीं जुड़े—तो वह धर्म दो कौडी का रह जाएगा। सामायिक के साथ 'समता' का उदात्तभाव जीवन में उतरे, तभी सही अर्थों में सामायिक होगी, सामायिकं सामायिकमेव मन्ये—अन्यथा तो सामायिक का सा हटकर केवल मायिक ही रह जाएगा। धर्म का आधार मनुष्य का जीवन है। उसकी वृत्तियां ही उसके धर्म को अभिव्यक्त करती हैं।
धर्म के दो परिणाम जीवन में प्रकट होने चाहिए—शांति और क्रांति। एक धार्मिक का जीवन सहज-शांत बन जाता है। वह किसी भी परिस्थिति में उद्वेलित, विचलित नहीं होता। वह प्रतिकूल स्थिति में भी अपना संतुलन नहीं खोता।

हर व्यक्ति के मन में यह जिज्ञासा पैदा होती है कि सुख क्या है, दुख क्या है, आत्मा क्या है—आदि-आदि। व्यक्ति के मन में एक सहज प्रश्न यह भी उभरता है कि धर्म क्या है? अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए वह आगे बढ़ने का प्रयत्न भी करता रहता है।

'धृ' धातु का अर्थ है—धारण करना। उसके अंत में 'म्' प्रत्यय लगने से 'धर्म' शब्द बनता है। उत्पाद, व्यय और स्थिति—ये अवस्थाएं हैं, जो द्रव्यों को धारण करके रखती हैं, उनके अस्तित्व को टिकाए रखती हैं। द्रव्य-धर्म से तात्पर्य है—गति में सहायक होना, स्थिति में सहायक होना, स्थान देने में सहायक होना, मिलने और बिछुड़ने की शक्ति से संपन्न होना, जानने व देखने की क्षमता का होना। धर्म आदि पांच अस्तिकायों के ये स्वभाव या लक्षण, जो उनके पृथक्त्व को सिद्ध करते हैं और उनके स्वरूप को सिद्ध करते हैं—'अस्तिकाय-धर्म' कहे जाते हैं। इसी तरह सुनना, देखना, सूंघना, स्वाद लेना और स्पर्श करना—जो जिस इंद्रिय का विषय होता है, वह उसका 'इंद्रिय-धर्म' कहलाता है। इसी प्रकार गणधर्म, देशधर्म, ग्राम्यधर्म और राजधर्म भी कहलाए जाते हैं।

लेकिन आध्यात्मिक धर्म एक दम भिन्न अवस्था है। आत्मधर्म क्या है—यह भी समझने की जरूरत है।

'जैन सिद्धांत दीपिका' में धर्म को परिभाषित करते हुए बताया गया—**आत्मशुद्धि साधनं धर्मः**[1]—जिससे आत्मा की शुद्धि हो, आत्मा निर्मल हो, पवित्र हो—उसको आत्मधर्म कहते हैं। कोई व्यक्ति अपने इष्ट की आराधना करता है, स्वाध्याय, जप एवं तप आदि करता है—उससे आत्मा पवित्र होती है। यदि जीवन के व्यवहार में प्रामाणिकता, ईमानदारी, नैतिकता आदि लक्षण होते हैं, तो

व्यक्ति की आत्मा निर्मल हो सकती है। लेकिन, कोई व्यक्ति अपने दुष्कृत्य से अपनी ही आत्मा को दुर्गति के मुंह में भी धकेल डालता है। किसी भी परिस्थिति में गिरे हुए व्यक्ति को उठाना लौकिक धर्म की परिधि में आता है और यह एक व्यावहारिक कर्तव्य भी कहलाता है। अध्यात्म की दृष्टि से धर्म का आलंबन देना, सहयोगी बनना—लोकोत्तर धर्म कहलाता है। भगवान महावीर के काल में मुनि मेघकुमार का मन विचलित हो उठा था और उन्होंने घर जाने का मानस बना लिया था, तब भगवान महावीर ने समझा कर उन्हें पुनः संयम में स्थिर किया—यह लोकोत्तर धर्म कहलाता है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा कि मोक्ष की ओर आगे बढ़ाने वाला और संयम की शिक्षा देने वाला शास्त्र—धर्म है।

आचार्य कुंदकुंद ने कहा—**वत्थुसहावो धम्मो**—वस्तु के स्वभाव का नाम धर्म है। प्रत्येक वस्तु का कुछ-न-कुछ धर्म (स्वभाव) होता ही है। जैसे अन्न का स्वभाव भूख मिटाना है, पानी का स्वभाव प्यास को शांत करना है, आकाश का स्वभाव आधार देना है एवं इंद्रियों का स्वभाव अपने-अपने विषयों को ग्रहण करना आदि-आदि। इसी प्रकार अपनी आत्मा में रहना, अपने स्वभाव में रहना—आत्मधर्म कहलाता है। वैशेषिक दर्शन (1/112) में कहा है—**यतोऽभ्युदय निःश्रेय स सिद्धि स धर्मः**[2]—जिस प्रवृत्ति से सांसारिक जीवन में उन्नति हो और मोक्ष की प्राप्ति हो—उसका नाम धर्म है। जो धर्म संसार को व्यवस्थित रूप में बनाए रखता है, जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार निरंतर बदलता रहता है—वह लौकिक धर्म कहलाता है। लोकोत्तर धर्म (आत्मिक धर्म—सत्य, अहिंसा आदि) तीनों कालों में समान रहता है एवं आत्महित के लिए—विशेषतया प्रयत्नपूर्वक—जो आचरण किया जाता है, वह आत्मिक धर्म है।

धर्म के लक्षण

किसी व्यक्ति एवं वस्तु की पहचान उसके गुणों से होती है, लक्षणों से होती है। इसी प्रकार धर्म की पहचान भी उसके लक्षणों के आधार पर होती है। जैन आगमों में बताया गया है—**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो**[3]—धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। इन लक्षणों के आधार पर हमें ज्ञात होता है कि अमुक कार्य करना धर्म है या दया है। प्रश्न होता है कि जब अहिंसा, संयम और तप से भिन्न कोई धर्म नहीं है तथा धर्म से भिन्न अहिंसा, संयम और तप नहीं हैं, तब फिर धर्म और अहिंसा का पृथक उल्लेख क्यों? इसका समाधान यह है कि 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में प्रकट होता है। ग्राम्य धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म—आदि, लौकिक धर्म अहिंसात्मक नहीं होते। उन धर्मों में मोक्ष-धर्म प्रकट करने के लिए अहिंसा, संयम और तप—ये धर्म के लक्षण बतलाए गए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो धर्म अहिंसा, संयम और तपोमय है—वही उत्कृष्ट मंगल है। शेष धर्म उत्कृष्ट मंगल नहीं हैं। महाभारत में **आचारलक्षणो धर्मः** बताया गया, धर्म का ही लक्षण आचार है, सच्चरित्र है। यदि चारित्र विशुद्ध है, पवित्र है, निर्मल है—तो यह धर्म का ही लक्षण है। व्यक्ति ईमानदारी, प्रामाणिकता, नैतिकता एवं भावनात्मक शुद्धि से कोई कार्य करता है, तब कहा जाएगा कि उसका चारित्र—सच्चरित्र है। लेकिन, भौतिकवादी युग में कोई व्यक्ति लोभ-लालच में इतना उलझ जाए कि न नैतिकता का भान रहे और न व्यवहार का—तब क्या कहा जाएगा? लोभ के कारण व्यक्ति धोखाधड़ी, छल-कपट आदि-आदि घृणित कार्य भी कर देता है। वह अपने-आप को भावनात्मक पवित्रता से भी दूर कर लेता है।

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणों का उल्लेख मिलता है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशक धर्मलक्षणम्।[4]

1. धृति, 2. क्षमा, 3. दम, 4. अस्तेय, 5. शौच (मन, वाणी और शरीर की पवित्रता), 6. इंद्रिय-दमन, 7. बुद्धि, 8. विद्या, 9. सत्य, 10. अक्रोध—धर्म के ये दस लक्षण हैं।

धर्म का फल

आत्मानुशासन में बताया गया है कि कल्पवृक्ष से संकल्प किया हुआ और चिंतामणि से चिंतन किया हुआ पदार्थ प्राप्त होता है, किंतु धर्म से असंकल्प्य एवं अचिंत्य फल मिलता है।

संकल्प कल्पवृक्षस्य, चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं, फलं धर्मादवाप्यते।।[5]

संसार में धर्म की बहुत महिमा है। धर्म धारण करने योग्य है, धर्म आधार है, धर्म त्राण है, धर्म शरण है, धर्म द्वीप है और ऐसे धर्म का आधार जीवन है। जीवन में उतरने वाले आचरण ही धर्म को अभिव्यक्ति देते हैं। व्यक्ति के

कार्य-क्षेत्र में ही धर्म की पहचान होती है। असली धर्म तो मानव की दैनिक क्रियाओं में, उसके आचार-व्यवहार में ही बोलता है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम क्यों थे? सीता महासती क्यों थी? लक्ष्मण असाधारण साधक क्यों थे? उनके जीवन-दर्पण में प्रतिबिंबित आदर्शों ने ही उनको ऊंचाइयों तक पहुंचाया। अपने आचरण से रावण धिक्कार का पात्र बना और अपने सदाचार के कारण ही राम जन-जन के हृदय में आसीन हुए।

यह बड़ी भयंकर भूल हो रही है कि आज लोगों ने धर्म को जीवन से अलग ही, एक विषय बना लिया है। घंटा-आधा घंटा के पूजा-पाठ या ऐसा ही नित्य-नियम—बस इतने में धर्म की आराधना मान ली जाती है। पूजा-उपासना यदि संपूर्ण जीवन के साथ, हमारे दैनंदिन स्तर पर नहीं जुड़े—तो वह धर्म दो कौडी का रह जाएगा। सामायिक के साथ 'समता' का उदात्तभाव जीवन में उतरे, तभी सही अर्थों में सामायिक होगी, **सामायिकं मायिकमेव मन्ये**—अन्यथा तो सामायिक का **सा** हटकर केवल **मायिक** ही रह जाएगा। धर्म का आधार मनुष्य का जीवन है। उसकी वृत्तियां ही उसके धर्म को अभिव्यक्त करती हैं।

धर्म के दो परिणाम जीवन में प्रकट होने चाहिए—शांति और क्रांति। एक धार्मिक का जीवन सहज-शांत बन जाता है। वह किसी भी परिस्थिति में उद्वेलित, विचलित नहीं होता। वह प्रतिकूल स्थिति में भी अपना संतुलन नहीं खोता। भगवान महावीर ने कहा है—

जे य बुद्धा अइक्कंता जे य बुद्धा अणागया।
संति तेसिं पइट्ठाणं भूयाणं जगइ जहा।।[6]

—सूयगडो-1/11/36

जितने बुद्ध या तीर्थंकर अतीत काल में हुए हैं और जितने तीर्थंकर भविष्य में होंगे—सभी का प्रतिष्ठान-आधारभूमि शांति ही है, जैसे भूतों का आधार पृथ्वी है।

धर्म द्वारा प्राप्तव्य है—शांति! आत्म-शांति! भौतिक वस्तुओं द्वारा प्राप्त शांति वास्तविक शांति नहीं है। वह अन्य अनेक अशांतियों को जन्म देती है—यह सिद्ध है। कामनापूर्ति से कामनाएं कभी शांत नहीं होतीं। कहा भी है—

न जातुः कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते।।

जिस प्रकार घृत से अग्नि प्रज्जवलित होती है, उसी प्रकार काम के उपभोग से और कामनाएं उत्पन्न होती हैं और बढ़ती जाती हैं। वहां भला वास्तविक शांति कैसे प्राप्त हो सकती है? शांति तो निःस्पृह व्यक्ति को ही प्राप्त होती है। ऐसी निःस्पृह वृत्ति का जागरित होना ही धर्म का परम फल है।

धर्म से व्यक्ति को उत्तम कुल में जन्म, शरीर-स्वस्थता, सौभाग्य, लंबी आयु, बल, निर्मल यश, विद्या और धन संपत्तियां भी मिलती हैं। धर्म की सदा ही विजय होती है और अधर्म की सदा पराजय होती है।

भलाई का फल भला होता है और बुराई का बुरा। एक बार चाहे पाप फलता-फूलता प्रतीत होता हो, पर अंततः धर्म की जड़ ही हरी होती है। एक बार चाहे भले को बुरा दबा ले, किंतु आखिरकार भलाई ही टिकती है और बुराई निश्चय ही ढह जाती है।

धर्म के प्रकार

आगमों में धर्म के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। धर्म के दो प्रकार—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म[7] बतलाए हैं। चारित्र धर्म के भी दो प्रकार बतलाए गए हैं—अगार चारित्र धर्म, अनगार चारित्र धर्म। जो गृहस्थ बारह व्रतों की सम्यक् आराधना करता है, श्रावकत्व को स्वीकार करता है—वह अगार चारित्र धर्म है। जिसमें पूर्ण रूप से त्याग नहीं किया है, वह अगार चारित्र धर्म कहलाता है। अनगार का तात्पर्य है—जिसके कोई अगार (घर) नहीं। अगार का तात्पर्य घर है। धर्म के चार प्रकारों का उल्लेख शांत सुधारस में भी मिलता है—

दानं च शीलं च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन निरुपित।[8]

सर्वज्ञ भगवान ने दान, शील, तप और भावना से चार प्रकार के धर्म कहे हैं। स्थानांग सूत्र में धर्म के दस प्रकार बतलाए है।[9] ये हैं—1. शांति-क्षमा, 2. मुक्ति-निर्लोभता, 3. आर्जव-सरलता, 4. मार्दव-नम्रता, 5. लाघव-अकिंचनता, 6. सत्य, 7. संयम, 8. तप, 9. त्याग, 10. ब्रह्मचर्य। अन्य साहित्य में धर्म-मार्ग आठ प्रकार के बतलाए गए हैं।

इज्याध्ययनदानानि, तपः सत्यं क्षमा घृणा।
अलोभ इति मार्गोऽयं, धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो, दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो, नामहात्मसु तिष्ठति।।[10]

यज्ञ, वेदाध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया, अलोभ—

इस प्रकार धर्म का मार्ग आठ प्रकार का बतलाया है। उसमें प्रथम चार का सेवन तो दंभ के लिए भी हो सकता है, किंतु शेष चारों का सेवन महात्मा ही करते हैं।

धर्म की आवश्यकता

हर देहधारी व्यक्ति के लिए भोजन जितना आवश्यक है, आत्मा के लिए धर्म भी उतना ही आवश्यक है। आज के व्यक्ति धर्म की बात तो करते हैं, लेकिन धर्म करना नहीं चाहते। शास्त्र में ठीक ही कहा है—

धर्मस्य फल मिच्छान्ति, धर्मं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति सादराः।।

—सुभाषित रत्न-भंडागार

धर्म का सुख-रूप फल तो मनुष्य चाहता है, पर वह धर्म करना नहीं चाहता है। इसी तरह मनुष्य पाप का फल तो नहीं चाहता, किंतु पाप करके खुश होता है। यदि व्यक्ति की यही वृत्ति रही, तो वह धर्म के क्षेत्र में कैसे आगे बढ़ेगा? यदि उसे अपनी आत्मा को निर्मल, पवित्र बनाना है, तो उसके लिए धर्म अत्यंत आवश्यक है। इसलिए पंचतंत्र में ठीक ही कहा—

यस्य धर्म विहीनानि, दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहाकार-भस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति।।

—पंचतंत्र 3/97

जिस व्यक्ति के दिन धर्म के बिना आते-जाते हैं, वह लोहाकार की धोंकणीवत श्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं है। इसलिए हर व्यक्ति के जीवन में धर्म की अत्यंत आवश्यकता है।

धर्म को अच्छी तरह समझ कर उस पर श्रद्धा और प्रतीति करनी चाहिए। जीवन में जो अपने लिए चाहते हैं, वह दूसरे के लिए भी चाहें। जो अपने लिए नहीं चाहते हैं, वह दूसरों के लिए भी नहीं चाहना चाहिए। जिनशासन का, तीर्थंकरों का बस इतना मात्र उपदेश है। दसवेंआलियं चूलिका में बताया गया—**चइज्ज देहं, न हु धम्मसासणं।**[11] शरीर को आवश्यक होने पर भले छोड़ दें, किंतु अपने धर्म-शासन को नहीं छोड़ें। धर्म शासन के प्रति सदैव समर्पित रहकर धर्म की आराधना करते रहें। ❖

संदर्भ

1. जैन सिद्धांत दीपिका 8/3, पृ. 158, संपा. मुनि नथमलजी, प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू : चतुर्थ संस्करण, 1998।
2. वैशेषिक दर्शन 1/112, पृ. 4, संपा. उदयवीर शास्त्री, प्रकाशक : विजयकुमार गोविंदराम हासानंद, नई सड़क, नई दिल्ली, 1991।
3. दसवेआलियं 1/1, पृ. 5, संपा. आचार्यश्री महाप्रज्ञ, प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं, 2007 : संस्करण 3।
4. मनुस्मृति 6/92, पृ. 304, संपा. गोपालशास्त्री, प्रकाशक : चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2063।
5. आत्मानुशासन 22, पृ. 126, संपा. महावीर प्रसाद जैन, प्रकाशक : खेमचंद जैन सराफ श्री सहजानंद शास्त्र माला, मेरठ, 1965।
6. सूयगड़ो 1/11/36, पृ. 300, संपा. आचार्यश्री महाप्रज्ञ, प्रकाशक : जैन विश्वभारती, 2002 : द्वितीय संस्करण।
7. स्थानांग 2/1/107, पृ. 51, संपा. मुनि नथमलजी, प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं, वि.सं. 2033।
8. शांत सुधारस 10/1, पृ. 55, लेखक : उपाध्याय विनयविजयजी, प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू : दूसरा संस्करण, 1995।
9. स्थानांग सूत्र 10/16, पृ. 905, संपा. मुनि नथमलजी, प्रकाशक : जैन विश्वभारती लाडनूं : वि.सं. 2033।
10. विदुरनीति 3/56-57, पृ. 185-186, व्याख्याता युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक : रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, वि.सं. 2028।
11. दसवेआलियं चूलिका 1/17, पृ. 368, संपा. आचार्यश्री महाप्रज्ञ, प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं, 2007 : संस्करण 3। ❖❖

भगवान महावीर के उपदेशों में एक बड़े मार्के की बात है। उन्होंने आज्ञा दी थी कि सब धर्मों, पंथों व मानवों में जो सत्य का अंश है, उसे ग्रहण करना चाहिए। किसी एक ही मजहब, पंथ या व्यक्ति के पास संपूर्ण सत्य है, यह मानना उचित नहीं है। पूज्य विनोबा ने इस गूढ़ विचार का विवेचन करते हुए हमें एक नया शब्द दिया है—'सत्यग्राही'। 'सत्याग्रह' का विचार महात्मा गांधी ने दिया, और 'सत्यग्राही' का आदर्श भगवान महावीर ने। यदि हम सच्चे अर्थ में सत्य के ग्राही बनते हैं और अपने साथियों की बुराइयों के बजाय उनके गुणों को देखने व ग्रहण करने का प्रयास करते रहते हैं तो फिर हृदय-भेद होने की गुंजाइश ही नहीं रहती। हम आत्म-निरीक्षण करते हुए अपने अवगुणों को हटाने की कोशिश करेंगे।

—श्रीमन्नारायण

यह रोशनी कहां से आएगी

❑

रमेश थानवी

वह सोचता रहता है कि पढ़ाई प्रेम क्यों नहीं सिखाती? पढ़ाई ईमान और धरम क्यों नहीं सिखाती? यही सब सोचता रामू अपने बच्चों को अच्छा इंसान बनाने का फैसला करता है। वह फैसला करता है कि बच्चों को स्कूल तो भेजेगा, लेकिन प्रेम और ईमानदारी का पाठ बच्चों को घर में ही पढ़ाएगा। वह इमरती से बात करता है। उसे अपने जीवन के अनुभव सुनाता है। उसे बताता है कि लोग कितने छोटे हैं, कितने ओछे हैं।

रामू के जीवन की कमाई ही यही है कि उसने बड़े लोगों के ओछेपन को देखा है। उदार कहलाने वाले लोगों की क्रूरता उसने देखी है। दयालु कहलाने वाले लोगों की निर्दयता उसने खुद झेली है। यही रामू की कमाई है कि वह खुद कभी ओछा और निर्दय नहीं बना। उसको नफरत बुरी लगती है। प्रेम करना अच्छा लगता है।

रात बीती थी। सवेरा हुआ था। सूरज उगा था। रामू जागा था।

रामू उठा था। काम पर चला था। दिन भर काम करता रहा था। थकाहारा घर लौटा था। आज का दिन फिर बीत गया था।

शाम आज भी आई थी। अंधेरा फिर घिर आया था। रामू फिर सोया था। सवेरा फिर हुआ था। रामू जागा था। उठा था। उसके पांव उठे थे और काम पर चल दिए थे। उसकी मेहनत ने खेत की मेड़ बांधी थी। खेत की डोली बांधी थी। इसी में दिन फिर बीत गया था। थका-हारा रामू फिर घर लौट आया था।

रामू का घर मजूर का घर था। एक खेत-मजूर का घर। छोटे मजूर का घर। माटी और घास-फूस का बना घर, मगर मेहनत और हिम्मत पर टिका घर।

घर में थे बीबी, चार बच्चे और आंगन में उगा नीम का पेड़। बाहर अहाते में बंधी खड़ी थी एक बकरी। इनके साथ ही रहती थीं कुछ परेशानियां।

गरीबी रामू ने बचपन से ही देखी थी। वह आज भी गरीब था। थकान और अपमान उसे रोज मजूरी के साथ मिलते थे। उसकी उम्र के साथ वे साए की तरह जुड़ गए थे।

रामू की बीबी इमरती उसका साथ देती थी। दोनों मिल कर गुजारा कर रहे थे। गिरस्थी को चला रहे थे।

रामू की गिरस्थी चल रही थी। कभी गिट्टी तोड़ता, तो कभी तगारी उठाता। जो भी मजूरी मिलती,

उसी में जुट जाता। मेहनत हर जगह पूरी होती, पर मजूरी कभी कहीं पूरी नहीं मिलती।

रामू की मेहनत का मोल दूसरे करते। उसकी मजबूरी के कारण मोल हमेशा कुछ कम आंकते। जो भी मिलता, रामू ले लेता। कल के भरोसे में आज चुप रहता। कल भूखे रहने की चिंता उसे आज गुलाम बनाती थी।

रामू के बच्चे बड़े होने लगे थे। इसी के साथ उसे अपना बचपन भी याद आने लगा था। एक उदास बचपन, सपनों के सुख से कटा बचपन। उसे याद आया था कि बच्चों की यह उम्र खेलने की उम्र होती है। कुछ अच्छे-मीठे सपने देखने की उम्र होती है। सपनों का सुख बच्चों का अपना सुख होता है। रामू पिता था, यह सब वह जानता था।

रामू यह भी जानता था कि उसने पिता बन कर अब तक बच्चों को कोई हंसी नहीं दी है। खुशी नहीं दी है। अपने बच्चों को कभी मेले में ले जाने और शहर से आए झूले में बिठाने की बात भी रामू सिर्फ सोचता रहा है। मजूरी से लौटता रामू बच्चों के लिए कभी-कभी खट्टी-मीठी गोली ले जाने की बात सोचता रहा है। बच्चों ने कभी मिठाई मांगी तो रामू गुड़ से ही उनको बहलाता रहा है। उसे अपने बच्चों के सपने अब सताने लगे हैं।

बच्चों के लिए रामू का प्यार बहुत सच्चा है। रामू बच्चों को प्यार करता है और बच्चे रामू को। इसी प्यार-दुलार के कारण गरीबी कभी बच्चों को अखरी नहीं। उन्होंने कभी किसी कमी की शिकायत अपने पिता से नहीं की।

रामू को उनके कल की चिंता है। वह उनको पढ़ाना-लिखाना चाहता है। अपने से कुछ अधिक काबिल बनाना चाहता है। अपनी गुलामी से उनको बचाना चाहता है। ऐसी गुलामी जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है। रामू की इस इच्छा में इमरती की इच्छा भी जुड़ गई है। वह मां है और बच्चों का सुख उसका अपना सुख है। इमरती और रामू ने बच्चों को काबिल बनाने की बात सोची है।

रामू को पढ़ाई पसंद है, लेकिन उसको आज की पढ़ाई पर पूरा भरोसा नहीं रहा। उसको यह विश्वास नहीं रहा कि हर पढ़ा-लिखा आदमी काबिल होता है। उसने यह देखा है कि हर पढ़े-लिखे आदमी ने अपना गांव छोड़ा है। रामू ने यह भी देखा है कि शहर से पढ़-लिख कर आए लोग लोगों से बहुत प्यार नहीं करते, मोहब्बत नहीं करते। लोगों से जुड़े बिना ही वे अपना मतलब सीधा कर चल देते हैं। पढ़े-लिखे लोगों की बेईमानी और धोखाधड़ी को खुद रामू ने अपनी कमर पर झेला है। वह जानता है कि आज की पढ़ाई ईमान नहीं सिखाती है। अपने पसीने की पूरी मेहनत की मजूरी कम पाने पर रामू यह समझ जाता है कि पढ़े-लिखे मालिक ने उसके साथ कितना धोखा किया है। रामू तब बहुत दुखी और उदास हो जाता है। पर, मुंह नहीं खोलता है।

वह सोचता रहता है कि पढ़ाई प्रेम क्यों नहीं सिखाती? पढ़ाई ईमान और धरम क्यों नहीं सिखाती? यही सब सोचता रामू अपने बच्चों को अच्छा इंसान बनाने का फैसला करता है। वह फैसला करता है कि बच्चों को स्कूल तो भेजेगा, लेकिन प्रेम और ईमानदारी का पाठ बच्चों को घर में ही पढ़ाएगा। वह इमरती से बात करता है। उसे अपने जीवन के अनुभव सुनाता है। उसे बताता है कि लोग कितने छोटे हैं, कितने ओछे हैं।

रामू के जीवन की कमाई ही यही है कि उसने बड़े लोगों के ओछेपन को देखा है। उदार कहलाने वाले लोगों की क्रूरता उसने देखी है। दयालु कहलाने वाले लोगों की निर्दयता उसने खुद झेली है। यही रामू की कमाई है कि वह खुद कभी ओछा और निर्दय नहीं बना। उसको नफरत बुरी लगती है। प्रेम करना अच्छा लगता है।

इमरती जानती थी कि रामू ने कितना सहा है। उसने हमेशा रामू का साथ दिया है और हर हाल में दोनों ने मिल कर जमाने को बरदाश्त किया है। इमरती को नफरत से भरी यह दुनिया बुरी लगने लगी है। प्रेम अच्छा लगने लगा है।

इमरती ने रामू की बात सुनी थी, मानी थी और अपनी मंजूरी दी थी। दोनों ने मिल कर यह तय किया था कि बच्चों को स्कूल तो भेजेंगे, मगर घर में भी उनका पूरा ध्यान रखेंगे। कच्ची माटी को अच्छे संस्कार

देना घर का पहला काम है। नींव की मजबूती में उनका भरोसा था और उनका यह फैसला पक्का था। बच्चे स्कूल जाने लगे थे। रोज रात मां से कहानी सुन कर प्रेम का पाठ पढ़ने लगे थे। मां याद दिलाती थी कि—'ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।'—मां का यह पाठ कभी कहानी के जरिए हिए में उतरता, तो कभी किसी गीत के जरिए। हर बार ऐसा लगता जैसे सीखने के इस सुख से उनको कोई सींच रहा है।

रामू ने देखा था कि इमरती ने बच्चों को पूरी तरह संभाल लिया है।

एक-एक कर कई बरस बीत गए थे। रामू को अभी भी अपने गांव की हालत में बदलाव का इंतजार था। पहले उसने उम्मीद की थी कि आजादी के बाद गांधी-महात्मा की बात सुनी जाएगी और ऊंच-नीच का भेद मिटा कर गांवों में 'सुराज' की स्थापना की जाएगी। रामू को सुराज के सपने जमीन पर उतरते भी दीखे थे—जब सड़क, बिजली और रेल उसके गांव तक पहुंचे थे। लेकिन, रामू ने देखा था कि गांवों में भूमिहीन किसानों की गिनती बढ़ रही थी। छोटे जमींदार बड़े जमींदार बन रहे थे।

-रामू हैरान था कि दीवार मिटाने के नाम पर नई दीवारें खड़ी हो रही हैं। ये दीवारें रामू को दुखी करती हैं। उसे फासले अच्छे नहीं लगते। मगर वह देख रहा था कि दीवारों से बंटे समाज में भी कोई नफरत के बीज बो रहा है। रामू हैरान था कि शिक्षा-दीक्षा के बावजूद भेदभाव बढ़ा है। फलती-फूलती फसलों के बावजूद भूख और गरीबी बढ़ रही है।

रामू को लगा था कि किसी ने पहिए को उलटा घुमा दिया है।

रामू सोच रहा था कि इस पहिए को उलटा कौन घूमा सकता है? उसे समझ में कम आता था। हैरानी अधिक होती थी।

हैरान रामू पहिए की इस उलटी रफ्तार को खुद भोग रहा था। तन तोड़ते बरस बीत गए थे। माली हालत सुधरने की कोई उम्मीद नजर नहीं आती थी। कर्ज कभी उतरता नहीं था। हमेशा सूद ही चुकता था, मूल जस का तस सिर पर चढ़ा रहता था।

पहिया उलटा ही घूम रहा था। रामू की मेहनत का लाभ किसी बड़े घर में जा रहा था। दौलत और सुख सिर्फ एक तरफ सिमट रहे थे। मजूरी बांटने वाले मेट भी मोटे सेठ बन गए थे। जमींदारों और ठेकेदारों के कुर्तों और मूछों की कलफ दिनों-दिन कड़क होती जा रही थी, पर रामू के तन-मन की कलफ धुल-धुल कर उतर गई थी। रामू को लगा था कि उलटे घूमते इस पहिए के साथ वह भी बंधा है। दबा है।

उसने खुद देखा था कि गांव को शहर से जोड़ने वाली सड़क जब बनाई गई थी तब बड़ी खुशियां मनाई गई थीं। वह खुद ही तो उस सड़क को बनाने वाला था। उसने तो गिट्टी तोड़ी थी। गिट्टी को तोड़ते हुए वह सोचता रहता था कि यह गिट्टी किसी दिन गांव को शहर से जोड़ देगी। गांव को देश से जोड़ देगी। वह यह भी सोचता रहता था कि यह सड़क कभी कोई 'डाक्टर' इस गांव में लाएगी, कभी कोई 'मास्टर' इस गांव में लाएगी और यह एक स्वस्थ और शिक्षित गांव बन जाएगा। मगर, रामू का सपना अभी पूरा नहीं हुआ था। गांव में कई लोग अनपढ़ ही रहे। इनमें भी किशोरियां और युवतियां ज्यादा थीं।

रामू को लगा था कि सड़क भी एक 'बीमारी' बन गई है। सड़क बनाने में रामू ने बहुत मन लगा कर काम किया था, लेकिन यह सड़क रामू को कहीं नहीं ले जा सकी थी। रामू तो जहां था, वहीं ठहरा-सा रह गया था।

रामू को लगा था कि सड़क और पुल तो आदमी और आदमी के बीच बनने चाहिए ताकि वे नजदीक आ सकें—एक-दूसरे के। लेकिन, वैसा करना अकेले रामू के लिए संभव नहीं था। रामू ने इमरती से पूछा था—'हम दिलों को दिलों से क्यों नहीं जोड़ सकते, एक मन से दूसरे मन के बीच कोई सड़क क्यों नहीं बना सकते?'

रामू को लगने लगा था कि उसकी मेहनत का लोग मनमाना लाभ ले रहे हैं। उसने यह कभी नहीं चाहा था कि गांव में उसी के द्वारा बनाई हुई सड़क फासले पैदा करेगी, पर हुआ यही। उसको यह विश्वास नहीं होता था। सड़क पर मोटरें तो सरपट दौड़ती हैं, लेकिन गांव के अपने जीवन में इससे कोई रफ्तार क्यों नहीं आती? उसको तेज

भागती भारीभरकम मोटरों की रफ्तार फालतू लगने लगी थी। उसको ऐसी रफ्तार का कोई मतलब समझ में नहीं आता था। वह अपनी मेहनत का कोई असर तलाश रहा था, कोई प्रभाव देखना चाहता था।

इस बीच उसे वे पुल भी दिखाई दिए थे, जिनको बांधने में उसने मदद की थी। इन पुलों पर से हजारों यात्रियों को लेकर लंबी गाड़िया सरपट दौड़ जाती थीं, लेकिन रामू को ये पुल किसी आदमी तक पहुंचाते नहीं दिखते थे। रामू ने अपने-आप से ही पूछा था—मैंने ये पुल क्यों बांधे? मैंने सड़क क्यों बनाई?

बिजली के खंभे रोपने में भी रामू ने मदद की थी। बिजली के ये खंभे हजारों किलोवाट बिजली इधर से उधर पहुंचाते थे, लेकिन रामू के गांव में अभी तक बिजली की किल्लत थी। मन का अंधेरा भी रामू देख रहा था। रामू को मन का अंधेरा अच्छा नहीं लगता था। रामू चाहता था कि लोगों के दिल और दिमाग रोशन हो जाएं। लेकिन यह रोशनी कहां से आएगी? कौन देगा?

रामू तो सिर्फ सवाल कर रहा था कि सड़कें और पुल हमको जोड़ते क्यों नहीं? खेत हमको भरपूर रोटी क्यों नहीं देते? स्कूलें अच्छी पढ़ाई क्यों नहीं देतीं? बच्चों को नया संसार कब देंगे हम? नया समाज कब देंगे हम?

रामू सिर्फ सवाल कर रहा था। सवाल करने का हक उसका अपना हक है। पर, कहीं से भी इन सवालों के उत्तर नहीं मिल रहे थे। ❖

जं छेयं तं समायरे

पृष्ठ 28 का शेष

जा सकता है—एक पिता के दो पुत्र थे। बड़े लड़के के जीवन में दुर्गुण बढ़ते जा रहे थे और छोटे लड़के के जीवन में सद्गुणों का विकास हो रहा था। किसी व्यक्ति ने बड़े लड़के से पूछा—भैया! तुम्हारे में इतने अवगुण हैं, इतनी बुराइयां हैं—ये तुमने कहां से सीखीं? बड़े लड़के ने कहा—यह सब मैंने अपने पिताजी से सीखा है। फिर छोटे लड़के से पूछा—भैया! तुम इतने शालीन, सज्जन और सद्गुण संपन्न हो, तुमने ये अच्छाइयां कहां से ग्रहण कीं? छोटे बेटे ने कहा—महाशय! यह सब मैंने अपने पिताजी के जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर ग्रहण की हैं। पृच्छक के मन में जिज्ञासा हुई कि बड़े पुत्र ने अपने पिताजी से बुराइयां सीखीं और छोटे पुत्र ने पिताजी से अच्छाइयां सीखीं—यह कैसे हो सकता है? आखिरकार दोनों को ही अपनी इस बात का रहस्य प्रकट करने के लिए कहा गया। बड़े बेटे ने कहा—मैंने देखा कि पिताजी बीड़ी पीते हैं, शराब पीते हैं, गालियां बोलते हैं और ऐसे ही कई काम करते हैं। उनको देखते-देखते मुझ में भी वैसे ही संस्कार आ गए। मैं भी बीड़ी पीने लगा, शराब पीने लग गया, गालियां देने लगा और कई गलत बातें मैंने ग्रहण कर लीं। फिर छोटे पुत्र ने बताया—मान्यवर! मैंने देखा कि पिताजी बीड़ी पीते हैं, शराब आदि पीते हैं और इसी से उनका स्वास्थ्य बिगड़ा है। वे अस्वस्थ रहने लगे हैं। वे इसी कारण गालियां बोलते हैं, अपशब्दों का प्रयोग करते हैं तथा इसी कारण उनकी प्रतिष्ठा कम हो गई है। वे असम्मान के पात्र बन रहे हैं। मैंने पिताजी के ऐसे जीवन को देख कर सबक लिया और यह निर्णय कर लिया कि मैं कभी भी इन बुराइयों को अपने जीवन-व्यवहार में नहीं आने दूंगा। इस प्रकार मेरा जीवन अच्छा बन गया।

आदमी बुराइयों को देखे और अच्छाइयों को भी देखे। दोनों को जानने-समझने के बाद वही ग्रहण करे जो उपादेय है। जैसा कि दसवेआलियं सूत्र में कहा गया है—**जं छेयं तं समायरे**—जो श्रेयस्कर है, कल्याणकारी है, उसी का आचरण करें। जो गलत है—उसका आचरण न करें। शास्त्रकार ने सर्वगुण संपन्नता से अपुनरावृत्ति की प्राप्ति बतलाई है और उसके साथ शारीरिक व मानसिक दुःखों से मुक्त होने की बात भी कही है। आदमी के जीवन में गुण-संपन्नता है तो अनेक समस्याओं से, अनेक कठिनाइयों से छुटकारा मिल सकता है। एक व्यक्ति मधुरभाषी है, सबके साथ विनम्रता और मृदुताभरा व्यवहार करता है, तो लोग भी उसे सम्मान देते हैं, उसके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं। विनम्रता और शालीनता ऐसे गुण हैं, जो असम्मान या अपमान की स्थिति आने ही नहीं देते हैं। व्यक्ति के स्वयं के अशिष्ट व्यवहार से उस व्यक्ति को अधिक दुख होता है। शालीन व्यवहार वाला व्यक्ति स्वतः ही दुख से मुक्त हो सकता है।

इस तरह कोई व्यक्ति यदि अपने जीवन में सद्गुणों का विकास करे, तो एक समय ऐसा भी आ सकता है, जब सर्वगुण संपन्नता की स्थिति सहज ही प्राप्त हो सकती है। ❖

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT-SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 0261-2322076 Fax : 02622-275120

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, नवंबर, 2009
प्रेषण दिनांक 28 अक्टूबर, 09

"Licensed to Post without Pre-Payment" Under Licence
No. Tech./W.R./47-2/11/2009-2011 Valid till 31-12-2011

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

Pigeon™

Top Quality
Unbeatable Price

Wick Stove

Solo

Cute

Hob

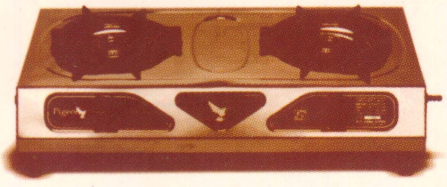
Duo (Two Burner)

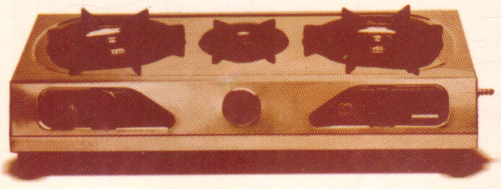
Trio (Three Burner)

IS : 4246
CM/L 6231958

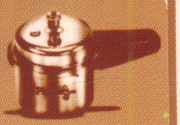
3 Ltr. SS

7.5 Ltr. SS

10 Ltr. SS

12 Ltr. SS

Junior
SS Pressure Pan WOL

Junior
SS Pressure Pan WL

Senior
SS Pressure Pan WOL

Senior
SS Pressure Pan WL

Chefmate
750 watts
High power motor

Stovekraft Pvt. Ltd.
81/1, Medamarana Holli, Harahalli Hobli, KANAKPURA TALUK 562112
RAMANAGARA DISTRICT, BANGALORE (RURAL)
PH : +9180 28016222 to 322 Fax : 9180 280160209
email : info@stovekraft.com website : www.stovekraft.com

A quality product of Stovekraft

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।